महर्षि दयानन्द सरस्वती की
उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा
का मुखपत्र

ओ३म्

*विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षा:,
सत्यव्रता रहितमानमलापहारा:।
संसारदु:खदलनेन सुभूषिता ये,
धन्या नरा विहितकर्म परोपकारा:।।*

वर्ष : ६३ **अंक** : १३

दयानन्दाब्द: १९७

विक्रम संवत्: आषाढ़ कृष्ण २०७८

कलि संवत्: ५१२२

सृष्टि संवत्: १,९६,०८,५३,१२२

सम्पादक

डॉ. सुरेन्द्र कुमार

प्रकाशक- परोपकारिणी सभा,
केसरगंज, अजमेर- ३०५००१
दूरभाष: ०१४५-२४६०१६४

मुद्रक-मन्त्री, परोपकारिणी सभा
वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।
दूरभाष : ०१४५-२४६०८३१

परोपकारी का शुल्क

भारत में

एक वर्ष-३०० रु.
पाँच वर्ष-१२०० रु.
आजीवन (१५ वर्ष) -३००० रु.
एक प्रति - १५/- रु.

विदेश में

वार्षिक-५० यू.के. पाउण्ड/८० यू.एस.डॉलर
द्विवार्षिक-९५ पाउण्ड/१५२ डॉलर
त्रिवार्षिक-१४० पाउण्ड/२२५ डॉलर
आजीवन (१५वर्ष)-५००पा./८०० डॉ.
एक प्रति - ३ पाउण्ड
एक प्रति - ४ डॉलर

वैदिक पुस्तकालय : ०१४५-२४६०१२०
ऋषि उद्यान : ०१४५-२६२१२७०

RNI. No. ३९५९ / ५९

i jki dkjh

जुलाई प्रथम २०२१

अनुक्रम

०१. कोरोना महामारी : दरकती....	सम्पादकीय	०४
०२. अग्नि सूक्त-०७	डॉ. धर्मवीर	०८
०३. कुछ तड़प-कुछ झड़प	प्रा. राजेन्द्र 'जिज्ञासु'	११
०४. सिंहावलोकन-१८५७ के गदर में...	गंगाप्रसाद उपाध्याय	१६
०५. पुरोहितम्- अर्थ विचार	डॉ. वेदपाल	१९
०६. सौ वर्षों तक कर्म करते हुए जीने...	कन्हैयालाल आर्य	२२
०७. ग्रन्थरत्न अद्वैतवाद के लेखन की...	राजेन्द्र 'जिज्ञासु'	२६
०८. माता लक्ष्मी देवी....	रामनिवास गुणग्राहक	२७
०९. वैदिक पुस्तकालय द्वारा प्रकाशित नया साहित्य		२९
१०. संस्था की ओर से...		३१
११. आर्यजगत् के समाचार		३३
१२. 'सत्यार्थ प्रकाश' प्रचार महायज्ञ में आपकी आहुति		३४

www.paropkarinisabha.com
email : psabhaa@gmail.com

उपनिषद्, दर्शन, प्रवचन आदि सुनने हेतु बटन दबाएँ
www.paropkarinisabha.com→gallery→videos

'परोपकारी' पत्रिका में प्रकाशित सभी आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के निजी हैं। इन्हें सम्पादकीय नीति नहीं समझा जाये। किसी भी विवाद की परिस्थिति में न्यायक्षेत्र अजमेर ही होगा।

सम्पादकीय

कोरोना महामारी : दरकती संस्कार-परम्परा

माना जाता है कि धर्म, धैर्य और मित्र की परीक्षा आपत्काल में हुआ करती है। आपत्तिकाल में जो इनको छोड़ देता है, वह न सुदृढ़ धार्मिक है, न वह अच्छा मित्र है, न धैर्यशाली व्यक्ति है। साक्ष्य बताते हैं कि कोरोनाकाल में कुछ हिन्दू संस्कार-परम्परा की अपनी धार्मिक आस्था को तिलाञ्जलि दे बैठे हैं। यह हिन्दुओं के लिए और हिन्दू धर्माचार्यों के लिए अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक चिन्तन और चिन्ता करने का विषय है। यह भी चिन्तनीय है कि जिस प्रथा की ओर हम बढ़ रहे हैं वह किसकी प्रथा है? क्योंकि सभी सम्भव उपायों से रोके जाने की प्रथा है यह।

कोरोना महामारी ऐसी विपदा आई है कि उसने लोगों की जीवनशैली को बदल दिया है, सामाजिक दर्शन को बदल दिया है। परिवार की घनिष्ठताएँ शिथिल पड़ गई हैं, सामाजिक आत्मीयताएँ विलुप्त हो चली हैं। भयाक्रान्त हुए लोगों ने स्वयं को तालाबन्द कर रखा है, सारी सामाजिक गतिविधियाँ बन्द हैं। नाच-कूद और ढोल-ढमाकों की शादियाँ बीती बातें हो गई हैं, धार्मिक आयोजनों और साहित्यिक सम्मेलनों की भीड़ को लोग भुला चुके हैं। शिक्षा संस्थानों पर महीनों से ताले लगे हुए हैं।

शोर-शराबे से चौबीस घण्टे गुंजायमान रहनेवाली दुनिया में सन्नाटा छाया है। किन्तु साथ ही चारों ओर भय, आतंक, रुदन, दु:ख, पीड़ा, हाहाकार का वातावरण है। डाक्टर विवश हैं, व्यवस्था बेबस है, लोग लाचार हैं, प्राकृतिक आपदा के आक्रमण से चारों ओर **''त्राहि माम्, त्राहि माम्''** की करुणामयी पुकार सुनाई पड़ रही है।

इन संकटों के बीच एक आशंका उभर कर आई है, संस्कार-परम्परा के दरकने की, उत्तम प्रथाओं के छूटने की, सम्बन्धों के टूटने की। सोलह संस्कार भारतीय संस्कृति के मूल आधार हैं। उनमें से विवाह और अन्त्येष्टि इन दो संस्कारों को आर्य/हिन्दू जन आज तक भी निष्ठापूर्वक करते आ रहे हैं। हम देख रहे हैं कि आज कोरोना से काल-कवलित हुए हजारों लोग प्रतिदिन इस दुनिया को छोड़कर जा रहे हैं। गम्भीर चिन्ता की बात यह है कि भावनाएँ इतनी निर्मम बन गई हैं कि बाप के शव को बेटा और बेटे के शव को बाप, भाई के शव को भाई और रिश्तेदार के शव को रिश्तेदार लेने से मुकर रहे हैं। हिन्दू अन्तिम धार्मिक अग्नि- संस्कार को त्यागकर अपनी धार्मिक आस्था के विरुद्ध जाकर कोई शव को नदी में फेंक रहा है, कोई नदी में प्रवाहित कर रहा है, कोई गंगातट पर दफना रहा है। पिछले दिनों पत्रकारों को प्रयाग आदि के गंगा तट के रेत में सैंकड़ों शव दफन किये हुए मिले। उनमें से अधिकतर को धार्मिक नाम और चिह्न से अंकित वस्त्र ओढ़ाये हुए थे, परन्तु चिन्ता का विषय यह है कि वह प्रथा हमारे धर्म की नहीं है।

सभी सभ्यजन अपने प्रियजन का अन्तिम संस्कार श्रद्धा और सम्मान के साथ करते हैं, परन्तु हिन्दू इतना कमजोर हो गया कि अपने प्रिय परिजन का धार्मिक अन्तिम संस्कार भी छोड़ बैठा? एक विपदा में उसकी सारी धार्मिक कर्मकाण्डीय और सांस्कृतिक आस्थाएँ कहीं फुर्र हो गईं? उनका यह आचरण केवल चिन्ताजनक ही नहीं, शोकप्रद भी है। यह व्यवहार सिर्फ उनकी धार्मिक आस्था पर ही प्रश्न खड़े नहीं करता, अपितु उनके पारिवारिक सम्बन्धों पर भी प्रश्न खड़े कर रहा है। क्या ऐसे लोग वस्तुत: मृतकों के अपने कहलाने के अधिकारी हैं? क्या ऐसे लोगों को अच्छा पारिवारिक या सामाजिक कहा जा सकता है? नहीं, बिल्कुल नहीं। ऐसे लोग तो धिक्कार के पात्र हैं। शव को दफनाकर उन लोगों ने न अपने धर्म का पालन किया, न ही अपनी संस्कृति का सम्मान किया है और न अपने सभ्य होने का परिचय दिया है।

संसार के सभी सभ्य समाजों के संविधानों या परम्पराओं में अन्तिम संस्कार को कानूनी मान्यता प्राप्त है। कानून मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने मतानुसार सम्मानसहित अन्तिम संस्कार का कानूनी अधिकार है। अत: कानूनी दृष्टि से भी प्रत्येक मृतक का अन्तिम संस्कार अपनी ही धार्मिक विधि के अनुसार ससम्मान करना बनता है। हिन्दू कहलानेवाले कुछ लोगों ने न उस कानून का

पालन किया, न नैतिकता का पालन किया।

संसार में अन्तिम संस्कार के मुख्यतः पाँच प्रकार पाये जाते हैं। **एक**- वैदिक धर्म में शव का सामग्री-घृतपूर्वक अग्निदाह करना। **दो**- पारसियों और कुछ बौद्धों द्वारा शव को पशु-पक्षियों के खाने के लिए किसी ऊँचे मीनार पर, गुफा या वन में रख देना। **तीन**- यहूदियों, ईसाइयों, मुसलमानों में शव को भूमि में दफनाना। **चार**- मिस्र में शव का संलेपन करके ममी के रूप में सुरक्षित रखना। **पाँच**- हिन्दुओं में कुछ लोगों द्वारा शव को नदी में प्रवाहित करना। इस प्रवाह का आधार अज्ञानता, विचारहीनता और अन्धविश्वास है।

आजकल बिना संस्कार किये देहदान की प्रथा भी शुरू हो चुकी है। अनेक व्यक्ति अस्पतालों के लिए देह-दान कर रहे हैं। चिकित्सा-शिक्षा की उन्नति में यह उल्लेखनीय योगदान और परोपकारार्थ पवित्र दान-कार्य है। वैदिक इतिहास में कथा आती है कि प्राचीनकाल में देवों के लिए महर्षि दधीचि ने अपनी अस्थियों का दान कर दिया था। देहदान को उसी प्राचीन परम्परा से जोड़कर देखा जा सकता है।

यदि कुछ लोगों के इस विषयक धार्मिक दृष्टिकोण को छोड़ दें और भौतिक दृष्टि से विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शव का अग्निदाह करना सबसे हितकर, लाभदायक, हानिरहित, सभ्य और उचित प्रकार है। अग्निदाह की परम्परा अत्यन्त प्राचीन और वेदोक्त है। वेदों में अनेक स्थलों पर अग्निदाह का उल्लेख आता है। उदाहरण के रूप में एक वेदमन्त्रांश प्रस्तुत है-

अथेदं भस्मान्तं शरीरम् (यजुर्वेद ४०/१५)

अर्थात्- 'शरीर का अन्तिम संस्कार उसे अग्नि में भस्म करके किया जाता है।'

अग्निदाह करने से भूमि का दुरुपयोग नहीं होता। कम-से-कम भूमि में लाखों शवों का संस्कार सम्पन्न हो जाता है। पर्यावरण की दृष्टि से भी अग्निदाह हितकर होता है। सामग्री एवं घृत के साथ अग्निदाह करने से किसी प्रकार का दुर्गन्ध तथा प्रदूषण उत्पन्न नहीं होता। भूमि और भूजल का प्रदूषण नहीं होता। इसमें किसी प्रकार के संक्रमण का खतरा भी नहीं है। अपितु संक्रमण भी अग्नि से नष्ट हो जाता है। शव और शवास्थियों की चोरी की आशंका नहीं रहती। शवभक्षी पशुओं और नरपशुओं द्वारा शवभक्षण का अवसर भी सामने नहीं आता। इसका एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक लाभ यह होता है कि **भस्मान्तं शरीरम्** अर्थात् शरीर के भस्म हो जाने के बाद मृतव्यक्ति के शरीर के प्रति कोई मोह नहीं रहता। इस विधि से देह के पञ्चतत्व प्रकृति के पञ्चतत्वों में विलीन हो जाते हैं। यह विधि भावनात्मक स्थिति के उद्वेग पर विराम लगाने में सहायक सिद्ध होती है। अन्य विधि से यह मनोवैज्ञानिक लाभ प्राप्त नहीं होता।

दाह-संस्कार पर कुछ लोग आपत्ति करते हैं कि इससे वनों का कटान होकर लकड़ी का अभाव होता जा रहा है, अतः यह विधि त्याग देनी चाहिए। इसका उत्तर यह है कि लकड़ी का अभाव होने पर उपले या विद्युत्दाह के अन्य विकल्पों को अपनाया जा सकता है, किन्तु दाह ही हिन्दू के लिए अन्त्येष्टि संस्कार की धर्मविधि है। जो ऐसा नहीं करता वह अपने धर्म का त्याग करता है।

सर्वप्राचीन वेदों में वर्णन होने से प्राचीन एवं मूल संस्कार तो दाह-संस्कार ही रहा है। कुछ लोग दाह-संस्कार को असभ्य कोटि में गिनते हैं, उनको याद रखना चाहिए कि दफनाने पर कीड़े पड़कर, तिल-तिल कर सड़ने से, खुले में रखने पर चीर-फाड़ होकर बोटी-बोटी बिखरी-फिरने से, जलप्रवाह में गल-सड़कर अंग-अंग, मांस-खण्ड छितरकर जल में फैले रहने से, सभी किये जानेवाले संस्कारों की तुलना में, सबसे सभ्य संस्कार दाहकर्म है, परन्तु दाह के उपरान्त नदी में अस्थिविसर्जन करना और नदी तट पर किया जानेवाला दाह-संस्कार भी जल प्रदूषक होने से अवाञ्छनीय है। जो यह सोचकर नदी तट पर दाह-संस्कार करते हैं कि यहाँ संस्कार करने मात्र से मृतक स्वर्ग में चला जायेगा या उसको सीधे सद्गति मिल जायेगी, यह विचार कोरा अन्धविश्वास और भ्रान्तिपूर्ण है। भावी जन्मों की सद्गति-असद्गति तो इस जीवन में किये कर्मफल के अनुसार होगी। अन्तिम संस्कार से मृतक शरीर के कर्मफल नहीं बदलते, वह तो चेतनाहीन जड़ हो जाता है। ऐसे तो सभी दुर्जन भी सद्गति प्राप्त कर लेंगे। फिर कर्मों का क्या महत्त्व रहेगा?

भूमि में शव को दफनाने की पाँच बहुत बड़ी हानियाँ हैं। (१) इससे भूमि का बड़ा भाग घिरता जाता है। भूमि का दुरुपयोग होता है, क्योंकि अन्य अन्न आदि के उत्पादन, आवास, उद्योगों आदि प्रयोजनों के लिए उसका अभाव बढ़ता जाता है। जनसंख्या विस्तार के साथ यह विस्तार भी असीमित हो सकता है। (२) शवों की सड़न से भूमि और भूजल का प्रदूषण होता है। (३) रोगों के संक्रमण का खतरा उत्पन्न होने की आंशका बढ़ जाती है। (४) शवों और शवास्थियों की चोरी होने की आशंका रहती है। (५) शवभक्षी पशुओं और नरपशुओं द्वारा शवभक्षण की चिन्ता बनी रहती है। (६) क़ब्र पर जाने से भावनात्मक उद्वेग उत्पन्न होकर मानसिक अशान्ति का कारण बनता है।

ज्ञात होता है कि अरब, ईरान, इराक, मिस्र, यरुशलम आदि देशों में रेत-बहुल इलाका है, वृक्षों का अभाव रहा है, लकड़ी की न्यूनता है, अतः इस विवशता में दफनाने की प्रथा का आरम्भ हुआ है। फिर देखा-देखी इसको धर्म मानकर अन्य देशों के लकड़ी बहुल क्षेत्रों के लोगों ने भी धार्मिक आग्रह से अपना लिया।

नदी तट पर दफनाये जानेवाले शव तो महादोषकारक हैं। वे भूमि के साथ नदी जल को भी प्रदूषित, दुर्गन्धित और संक्रमित करते हैं। वह जल मनुष्यों और पशुओं के पीने, नहाने-धोने, सिंचाई आदि के उपयोग में लिया जाता है। शवों की सड़न और रोगों के कारण मनुष्यों तथा पशुओं में संक्रमण एवं रोगों का खतरा बनता है। शवों और शवांगों से प्रवाहित नदी में नहाना स्नान करनेवालों के लिए कभी-कभी बड़ा ही घृणोत्पादक बन जाता है। यदि कोई यह सोचकर गंगा आदि के तट पर शव दफनाता है कि उसे पुण्यलाभ होगा तो यह महाभ्रान्ति और अन्धविश्वास है; अपितु वैसा करके अन्य मनुष्यों और पशुओं को प्रदूषण, रोगसंक्रमण, सड़न और दुर्गन्ध देकर उलटा पाप अर्जित कर रहा है।

पारसियों और कुछ बौद्धों में शव को वन, पर्वत, मीनार पर रख छोड़ने की प्रथा सर्वाधिक बीभत्स और निर्मम है। यद्यपि इसके मूल में पशु-पक्षियों के लिए भोजन उपलब्ध कराने हेतु मृतक शरीर की उपयोगिता का विचार दिया जाता है, तथापि यह प्रथा सर्वाधिक प्रदूषणकारक, दुर्गन्धकारक और घोर संक्रमणकारक है। ऐसा देखा गया है कि पशु-पक्षियों द्वारा चीर-फाड़ किया गया मृत शरीर बीभत्स दृश्य प्रस्तुत करता है और आसपास के क्षेत्र में पशु-पक्षियों द्वारा घर, आंगन, बाहर गिराये गये मांस खण्ड कचरा फैलाते हैं। इस प्रकार घृणित वातावरण का निर्माण करते हैं। अतः यह विधिग्राह्य नहीं मानी जा सकती।

मिस्र में शव पर मसालों का संलेपन करके उसे एक क़ब्रगाह में सुरक्षित रखने की प्रथा है। वहाँ ऐसी अन्धमान्यता है कि वे समय आने पर पुनर्जीवित हो उठेंगे। यह प्रक्रिया विशिष्ट राजाओं और व्यक्तियों के लिए ही की गई है। स्पष्ट है कि ममी के रूप में न तो हर आदमी को सुरक्षित रखना सम्भव है और न इतना क्षेत्र क़ब्रगाहों के लिए रखा जाना सम्भव है। ममीकरण के पीछे विशुद्ध अज्ञानता और भ्रान्ति है। यह सर्वसामान्य के लिए की जानेवाली रस्म भी नहीं है और न हो सकती है। मिस्र में भी अब इसका प्रचलन विलुप्त हो गया है।

कुछ हिन्दुओं तथा हिन्दू साधु-सन्तों द्वारा शव नदी में विसर्जित किये जाते हैं। इस सोच के पीछे यह अवधारणा है कि साधु-सन्त अग्नि का स्पर्श नहीं करते। अतः कुछ लोग उनको जल में बहा देते हैं। तथ्य तो यह है कि स्मृति आदि धर्मशास्त्रों में साधु-संन्यासियों को सर्वत्यागी हो जाने के कारण, यज्ञाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि इन अग्नियों के व्यावहारिक प्रयोग से छूट दी है, जिससे वे यज्ञसम्बन्धी, रसोई आदि के संग्रह-साधनों में न उलझें। उपासना करें।

इन लोगों ने भ्रान्ति से उस कथन को दाहक अग्नि पर लागू कर लिया है और अवाञ्छनीय प्रथा को अपना लिया है। किसी नवीन ग्रन्थ में कथन मात्र करने से यदि ये अग्निप्रदाह नहीं करते तो गार्हपत्य अग्नि का प्रयोग क्यों किया करते हैं? शवदाह में अग्नि का प्रयोग करने में कोई हानि नहीं है और न करने में कोई तर्क भी नहीं है। आश्चर्य तो यह है कि ये सब लोग सारे दिन किसी-न-किसी प्रकार से अग्नि के सम्पर्क में रहकर रसोई, हीटर, दीपक, आरती, धूपबत्ती, हवन आदि में अग्नि का उपयोग आयुभर करते हैं, परन्तु दाह-संस्कार में अग्नि के स्पर्श

को वर्जित कहते हैं।

साधु-सन्तों ने शव को जल में बहा देने का आकर्षक नाम **जलसमाधि** और भूमि में दफनाने का नाम **भू-समाधि** रखा हुआ है। ऐसा अनुमान होता है कि हिन्दू जनता में जो नदी तट के रेत में दफनाने और नदी में बहाने की प्रवृत्ति बढ़ी है वह इन्हीं के अनुकरण पर बढ़ी है। इस प्रथा से सब द्वारा अवश्य पालनीय वेदोक्त आर्य/हिन्दू धर्म के अन्त्येष्टि संस्कार की उपेक्षा होती है। यह भी स्मरण रखें कि शव को दफनाना तो इस्लामी प्रथा का अनुसरण है। वैदिक धर्मशास्त्रों में सोलह संस्कारों का विधान प्रत्येक आर्य/हिन्दू के लिए विहित है। उनमें दफनाने का विधान कहीं नहीं है। किसी ग़लत व्याख्या को मानकर हमने इस्लामी प्रथा का अनुकरण करना आरम्भ कर दिया। समाज-सुधारक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इस विषय में स्पष्ट लिखा है कि वैदिक शास्त्रों में दाहकर्म को ही सर्वोत्तम माना है। किसी नवीन ग्रन्थ में गलत व्याख्या के आधार पर शव को प्रवाहित करना अथवा दफनाना यदि लिख भी दिया है तो ऐसे तर्कहीन और भ्रान्तिपूर्ण व्याख्यायुक्त अवाञ्छनीय परम्परा विधायक ग्रन्थ को प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए। सभी पूर्वाग्रहों को त्यागकर तर्कसम्मत वैदिक परम्परा को हमें श्रद्धा से स्वीकार कर लेना चाहिए। **डॉ. सुरेन्द्र कुमार**

एक आहुति अपने आचार्य के लिए........

ऋषि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा की तन, मन, धन से सेवा करने वाले, उसे अपनी मातृवत् समझने वाले और यहाँ तक कि अपना जीवन समर्पित कर देने वाले डॉ. धर्मवीर आज अपना समस्त भार आर्य जनता अर्थात् अपने उत्तराधिकारियों पर छोड़ गये हैं। उन्होंने ऋषि के स्वप्नों को अपना कर्त्तव्य समझकर सभा को गगनचुंबी ऊँचाइयों तक पहुँचाया। अनेक नये प्रकल्प चलाये यथा-वैदिक गुरुकुल, गोशाला, आश्रम, अतिथियों के ठहरने व खान-पान की निःशुल्क व्यवस्था आदि। उन्होंने जो-जो कार्य छेड़े उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में कभी न्यूनता न आने दी। परोपकारिणी सभा ऐसे पुत्र को प्राप्त कर गौरव का अनुभव करती है और बिछुड़कर शोकग्रस्त होने का भी। उनके द्वारा शुरु किये कार्य कभी शिथिल न पड़ें, इस कारण **सभा ने डॉ. धर्मवीर जी की स्मृति में एक करोड़ रु. की स्थिर निधि बनाने का संकल्प लिया है,** जिससे कि धन धर्म के काम आ सके। इसमें सन्देह नहीं कि ये समस्त कार्य आर्य जनता के सहयोग से ही प्रारम्भ हो सके हैं और सहयोग से ही चल भी रहे हैं। इसलिये इसमें भी सन्देह नहीं कि सभा के इस संकल्प को आर्य जनता शीघ्र पूर्णता की ओर पहुँचा देगी और शायद उससे भी कहीं बढ़कर। यज्ञ तो हवि माँगता है। बिना हवि के यज्ञ की कल्पना भी क्या? बस देरी तो सूचित होने की है। हवि बनना तो आर्यों के खून में है, तन से, मन से अथवा धन से।

आप अपना दान चैक, ड्राफ्ट या सभा के खाते में सीधे भी भेज सकते हैं। कृपया, राशि भेजने के पश्चात् सभा में दूरभाष या पत्र द्वारा अवश्य सूचित कर दें।

- **कन्हैयालाल आर्य - मन्त्री**

आनन्द

जिस परमात्मा का यह 'ओ३म्' नाम है उसकी कृपा और अपने धर्मयुक्त पुरुषार्थ ये हमारे शरीर, मन और आत्मा का विविध दुःख जोकि अपने [से] दूसरे से होता है, नष्ट हो जावे और हम लोग प्राप्ति से एक-दूसरे के साथ वर्त्त के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि से सफल होके सदैव स्वयं आनन्द में रहकर सब को आनन्द में रखें।

संस्कार विधि

अग्नि सूक्त-०७

प्रवचनकर्त्ता- डॉ. धर्मवीर

लेखिका - सुयशा आर्य

प्रिय पाठक! परोपकारी पिछले कई वर्षों से आपकी सेवा में डॉ. धर्मवीर जी के वेद प्रवचनों को प्रकाशित कर रहा है। गत अंक में मृत्यु सूक्त का अन्तिम व्याख्यान प्रकाशित हुआ। आप सभी ने उक्त सूक्त को उत्सुकतापूर्वक पढ़ा। आप सबकी इस वेद-जिज्ञासा को ध्यान में रखकर शीघ्र ही यह पुस्तक रूप में भी प्रकाशित कर दिया जायेगा। इस अंक (मार्च प्रथम) से ऋग्वेद के प्रथम सूक्त 'अग्निसूक्त' की व्याख्यान माला प्रारम्भ की जा रही है। प्रवचनों को लेखबद्ध करने का कार्य डॉ. धर्मवीर जी की ज्येष्ठ पुत्री श्रीमती सुयशा जी ही कर रही हैं। -सम्पादक

अग्नि: पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति।।

इस वेदज्ञान की चर्चा में हम ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के प्रथम सूक्त की चर्चा कर रहे हैं। हमने देखा कि पहले मन्त्र में कहा गया- **अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देव ऋत्विजम् होतारं रत्नधातमम्।** अर्थात् जिसकी स्तुति की जा रही है वो अग्नि है और उसके अन्दर ये गुण हैं जो भी, जिसको भी आप अग्नि बनाना चाहते हैं और जिसको आप अग्नि के स्थान पर रखना चाहते हैं उसके अन्दर ये गुण होने चाहिएं या जिसमें यह गुण हैं वह अग्नि हमारे लिये इष्ट होना चाहिये, आराध्य होना चाहिये, ग्राह्य होना चाहिये। यह अग्नि जो इन गुणोंवाला है, इसके क्या लाभ हैं, इससे हमें क्या मिलनेवाला है, इसकी चर्चा दूसरे मन्त्र में है।

पहले कहा गया- **अग्नि: पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत** जो क्रिया इसके पहले मन्त्र में है- **अग्निमीळे पुरोहितम्** अर्थात् मैं अग्नि की स्तुति करता हूँ, अग्नि का ज्ञान करता हूँ, अग्नि का उपयोग करता हूँ, अग्नि की उपासना करता हूँ। ऐसा नहीं है कि किसी ने पहली बार उसके लिये ऐसा किया हो। इस संसार में मनुष्य के साथ दो बातें हैं- एक उसका जो सांसारिक व्यवहार है, दूसरा जो उसका पारमार्थिक है। इनमें किसी एक को अपनाने से काम नहीं चल सकता, क्योंकि सारे परमार्थ की सिद्धि संसार के पदार्थों पर निर्भर करती है। हमें यदि संसार की वस्तुएँ प्राप्त न हों तो हमारी परमार्थ तक पहुँचने की जो यात्रा है उसका करना सम्भव नहीं है। इसलिये भी परमार्थ के लिये व्यावहारिक संसार की आवश्यकता है। दूसरा इस व्यावहारिक संसार को बनाये रखने के लिये हमें इस व्यावहारिक संसार का उपयोग करना पड़ता है। इससे यात्रा भी करनी है और इसको व्यवस्थित और सुरक्षित भी रखना है। इस बात को इस दूसरे मन्त्र में कहा गया है। इसका भी ऋषि मधुच्छन्दा है, देवता अग्नि है और छन्द गायत्री है। इसमें जो शब्दावली है उसमें ध्यान देने के योग्य जो अभिप्राय है, स्वरूप है, कसौटी है, कहते हैं कि वह कोई नई चीज नहीं है, क्योंकि वेद के जो अर्थ हैं वो त्रैकालिक होते हैं और सभी लोकों में सभी स्थानों में उनका उपयोग होता है। इस दृष्टि से मन्त्र का जो भाव है, वह किसी एक ही काल, एक ही स्थान या एक ही व्यक्ति से बँधा हुआ नहीं है।

परमेश्वर क्योंकि त्रैकालिक है, तीनों कालों में रहता है, हमारी दृष्टि से काल का भेद होता है, उसके लिये तो सब वर्तमान ही है। न तो ऐसा समय कभी था कि वह नहीं रहा, न आज ऐसा है कि वह न हो और न भविष्य में कभी ऐसा समय आयेगा कि वह न रहे। ऐसी स्थिति में भूत, भविष्य, वर्तमान की जो संज्ञा है, वह ईश्वर के साथ गौण है। वह संज्ञा संसार की अपेक्षा से है, मनुष्यों की अपेक्षा से है, क्योंकि मनुष्य आज है, कल नहीं था, कल नहीं रहेगा। जब परसों था तो आज नहीं है। भूत-भविष्य-वर्तमान, यह जो विभाजन है यह मनुष्य की अपेक्षा से है। हम यह सोचते हैं कि हमको पहले नहीं पता था, शायद उसको पता था, नहीं था। आज हमें पता है भविष्य में हम भूल जायेंगे, लेकिन ये सब बातें हमारी अल्पज्ञता की हैं, अल्पगुणों की हैं। यह जो अल्पज्ञता है, मनुष्य में है, ईश्वर में नहीं। इस दृष्टि से जब हम ईश्वर की बात करते हैं तो ईश्वर की बात करने में त्रिकाल की जो बाधा है, व्यवधान है, शंका है वह नहीं आती, स्वाभाविक रूप से नहीं आती।

यहाँ पर कहा गया है कि अग्नि ईड्य है, उपासनीय है,

ज्ञेय है, उपयोज्य है, तो वह आज के लिये नहीं, पहले भी थी, आज के लिये भी है और यहाँ एक विशेष शब्द दिया है, **'ऋषि'। ऋषिभिः ईड्य।** यहाँ **ऋषि** शब्द बुद्धिमान् लोगों के लिये, समझदार लोगों के लिये, ज्ञानी लोगों के लिये आया है। ऋषि का अर्थ है वह द्रष्टा है, देखनेवाला है, अर्थात् जिसकी दृष्टि गहरी है, ज्ञान गहरा है यह उसका ऋषित्व है। यह जो स्थिति है वह ऋषियों के द्वारा **ईड्य** है। अर्थात् जो भी व्यक्ति समझदार होगा, ज्ञानी होगा वह उसे पा सकता है, उसका उपयोग कर सकता है। व्यावहारिक दृष्टि है तो उसका उपयोग कर सकता है और चेतनता की बात है तो उसे पा सकता है। इसलिये हमारे यहाँ जो ऋषि शब्द है यह बड़ा यौगिक अर्थ देनेवाला होता है। इसका रूढ़ि अर्थ से काम नहीं चलता है। ऋषि दयानन्द, ऋषि शब्द का जब ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में अर्थ करते हैं तो वह यह बात कहते हैं कि ऋषित्व इस बात में है कि उसका उद्देश्य, उसका प्रयोजन सात्विक है। उसका कोई अपना स्वार्थ, अपना हित, अपना व्यक्तिगत लाभ-प्रयोजन या उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य समाज का, प्राणिमात्र का, संसार का कल्याण करना है और उसके हित के लिये, उसके लाभ के लिये, उसके कल्याण और सुख के लिये जो व्यक्ति काम करता है उसके अन्दर ऋषित्व होता है। यह जो ऋषित्व है यह ऋषित्व दृष्टि है। एक मनुष्य, मनुष्य होता है, एक मनुष्य देवता होता है, ऋषि होता है, तो ये मनुष्य की स्थितियाँ हैं, इनसे ऋषित्व की प्राप्ति होती है। ऋषि की परिभाषा करते हुए जातकर्म संस्कार में एक मन्त्र है कि वे ऋषि जो हैं, वे दीर्घ आयुवाले हैं वो दीर्घायु क्यों हैं? कहता है-**ऋषयः आयुष्मन्तः ते व्रतैः आयुष्मन्तः तेन त्वा आयुषा आयुष्मतं करोमि स्वाहा।** बालक के लिये जातकर्म संस्कार में पिता उसके दीर्घ जीवन की, मंगल की, स्वास्थ्य की कामना कर रहा है। उसने कुछ उदाहरण दिये कि जैसे यह वस्तु दीर्घायु वाली है वैसे ही मैं तुझे भी दीर्घायुवाला बनाता हूँ। कहा **ऋषयः आयुष्मन्तः** जो ऋषित्व है वह ऋषित्व लम्बा कैसे होता है? उसकी अवधि कैसे बढ़ती है। ऋषियों का ऋषित्व जिस चीज से आता है- वह है **व्रतैः** अर्थात् जिनके अन्दर व्रत है, जो निश्चित संकल्प के लिये काम करते हैं, ऐसे जो लोग हैं वे ऋषित्व के योग्य होते हैं। यहाँ पर कहा है कि जो ऋषि लोग हैं, वे सदा अग्नि की उपासना करते हैं, अग्नि की प्रार्थना करते हैं, अग्नि की याचना करते हैं और जो भी कोई ऐसा करेगा, वह भी ऋषि होगा। जो पहले ऋषि था उसने अग्नि की उपासना की है, जो वर्तमान में ऋषि है वह अग्नि का उपासक है, भविष्य में भी कोई ऋषि बनेगा तो वह उस अग्नि की उपासना से ही बनेगा, उसे अग्नि की उपासना ही करनी होगी। यहाँ मन्त्र में जो-जो शब्द हैं वो विशेष हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं कि वह अग्नि **ईड्य** है, मैं भी उसका उपासक हूँ।

जैसे कि पिछले मन्त्र में कहा, मैं उपासना करता हूँ तो दूसरे मन्त्र में कहा- **अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्य** वहाँ प्रथम पुरुष में बात कही जा रही थी यहाँ अन्य पुरुष में बात की जा रही है। वह अग्नि पहले भी पूज्य था और आज भी पूज्य है। यह बताने का अभिप्राय है अर्थात् अग्नि वो तत्त्व है जिसके द्वारा पहले भी काम किया जाता था और आज भी किया जाता है। इसका मुख्य अभिप्राय है कि संसार में ऐसा नहीं है कि अग्नि पहली बार पैदा हुआ है, पहली बार प्रकट हुआ है। हमारे यहाँ अग्नि को ही इस धरती पर अग्नि कहा है, अग्नि को ही विद्युत् कहा है, अग्नि को ही सूर्य कहा है। अन्तरिक्ष की अग्नि विद्युत है, द्युलोक की अग्नि सूर्य है। स्थान-भेद के कारण से इनके रूप और नाम अलग हैं, लेकिन इनका गुण एक है और ये सदा ही संसार में रहेंगे। अर्थात् जब-जब भी संसार बनेगा वो **यथापूर्वमकल्पयत।** संसार में जिन-जिन चीजों की पहले आवश्यकता थी, उनकी उत्पत्ति हुई, उनका उपयोग हुआ वही स्थिति सदा ही रहेगी। अग्नि, अग्नि रहेगा। अग्नि के गुण, कर्म तब भी थे, अब भी हैं, भविष्य में भी रहेंगे। इसलिये मन्त्र में कहा है कि जो लोग पहले हुए हैं, विद्वान् हुए हैं उन्होंने भी इसी कार्य को किया है, **नूतनैरुत**- जो बाद के हैं वो भी उसको करेंगे और यह बाद और पहले का क्रम ऐसा है जो कभी समाप्त ही नहीं होता। हर वस्तु पहले से नई है। अपेक्षा से जो पहले पैदा हुई, उसके बाद जो पैदा हुई वह नई है। लेकिन उसके बाद पैदा होनेवाली से पहली वस्तु पुरानी है। बड़े सापेक्ष शब्द हैं- पुरातन और नूतन। इसमें एक और जो गहरी बात निकल कर आती है वह यह है कि हमारी एक पीढ़ी के बाद जो दूसरी पीढ़ी है चाहे शिक्षा में गुरु-शिष्य की पीढ़ी हो और चाहे जन्म में माता-पिता और सन्तान की पीढ़ी हो, हर जो पुरातन व्यक्ति है वह अपना ज्ञान नये को समर्पित करके जाता है, संक्रमण करके जाता है और इसलिए यह जो ज्ञान की परम्परा

है, शृंखला है यह बनी रहती है।

अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिः ईड्य जैसी जानकारी, आवश्यकता माता-पिता के लिये थी, वैसी ही जानकारी आवश्यकता सन्तान के लिये भी होती है। इसलिये जिस विद्या को, ज्ञान को, कर्म को माता-पिता ने अपने समय में किया, वही कार्य उनकी सन्तान के द्वारा भी किया जाता है। यह ज्ञान चाहे माता-पिता के द्वारा दें, यह ज्ञान चाहे गुरु-शिष्य के द्वारा दें। यह ज्ञान पहले लोगों के पास भी अनिवार्य था और बाद में भी है।

मुण्डकोपनिषद् में एक बड़ा रोचक प्रसंग है। वहाँ कहा कि जो जानकारी है उसको पाना चाहिये। **परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणः निर्वेदम् आयात् न अस्ति अकृतः कृतेन तद् विज्ञानार्थम् स गुरुम् एव अभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।** यह जो ज्ञान है इसको पाने के लिये हमें परीक्षा करनी पड़ती है कि हमें क्या पाना है और किससे पाना है, क्योंकि यहाँ हम देखते हैं कि यह जो कर्म है, इससे जितना मिलता है उतना यहाँ काम में आ जाता है, उसके बाद फिर आगे के लिये क्या? तो यह जो सांसारिक लाभ है यह संसार के साधनों, शरीरों की सेवा के लिये ठीक है, आगे के लिये हमें जिसके पास जाना चाहिए **श्रोत्रियम् ब्रह्मनिष्ठम्**, जो अग्निस्वरूप, चेतन गुरु है उसके पास जाना चाहिये। **तस्मै स विद्वान् उपसन्नाय सम्यक् प्रशान्त चित्ताय शमान्विताय येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।** उस अग्नि का जो उपदेश है वह आनेवाले व्यक्ति को दिया जाना चाहिये, हरेक श्रेष्ठ गुरु देता है।

वेद के इस मन्त्र के प्रारम्भिक जो-जो शब्द हैं, जो भी जानने की इच्छावाला है, जाननेवाला है, हर पहले जाननेवाले ने उसको उपयोग में लिया है और हर बाद में आनेवाले के लिये उसे उपयोग में दिया है। यह इसका अभिप्राय है।

श्रीमती सुनीता गुप्ता- एक परिचय

श्रीमती सुनीता गुप्ता का जन्म २४ मई, १९३८ को राजस्थान के एक गाँव शेरड़ा में सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी व समाज सुधारक श्री लालमन आर्य जी के यहाँ हुआ। आपने 'हिन्दी रत्न' की शिक्षा हिसार में एक सम्बन्धी के यहाँ रहकर पूरी की।

आपका विवाह चरखी दादरी के सेठ श्री दुलीचन्द गुप्ता के पुत्र श्री जसवन्त सिंह गुप्ता से २६ जून १९५३ में हुआ। ससुराल एक कट्टर पौराणिक परिवार था, परन्तु श्रीमती सुनीता गुप्ता में आर्यसमाज के प्रति निष्ठा व सिद्धान्त कूट-कूट कर भरे हुए थे। इन्होंने अपने ससुरालवालों को भी आर्यसमाजी परिवार में बदल दिया।

श्रीमती सुनीता प्रतिदिन प्रातः सन्ध्या व हवन नियमित रूप से करती थीं। करीब ६० वर्षों तक यह दिनचर्या का हिस्सा रहा। दान, पुण्य व आतिथ्य सत्कार में आपकी विशेष रुचि थी।

महिला आर्यसमाज चरखी दादरी की वह आजीवन अध्यक्ष रहीं व गुरुकुल पंचगामा की आजीवन उपकुलपति रहीं।

२९ अप्रेल २०१० में पति का देहावसान हो जाने पर, आपने अत्यन्त धैर्य के साथ गृहस्थी को सम्भाला। आपके चार पुत्र हैं। सभी आर्यसमाज की गतिविधियों में बढ़-चढ़कर भाग लेते हैं।

२ मई २०२१ को सायं ६:३० बजे सारे परिवार के मध्य बहुत ही शान्ति से आपने अपने जीवन की अन्तिम सांस ली। अपने अन्तिम संस्कार के विषय में वसीयत लिखी थी, जिसके मुख्य बिन्दु नीचे दिये गए हैं-

प्रथम- मेरा अन्तिम संस्कार वैदिक रीति से किया जाये।

द्वितीय- दाह संस्कार में १० किलो घी और २० किलो सामग्री डाली जाये।

तृतीय- मेरे बेटे सिर के बालों को न मुंडवायें।

चतुर्थ- मेरी भस्म गंगा में न बहाकर आस-पास खेतों में डाली जाये।

पंचम- तीन दिन पश्चात् सुविधानुसार कभी भी शान्ति यज्ञ करवा दें।

षष्टम- इस क्रिया में किसी प्रकार का ब्रह्मभोज, काज, श्राद्ध आदि न किया जाये।

सप्तम- मेरे बेटों को जितना भी दान देना हो वो गऊशाला, कन्या गुरुकुल, आर्यसमाज आदि संस्थाओं में दें।

अष्टम- मेरी कोई समाधि या स्मारक न बनावें।

सभी अधिकार मैं अपने बेटों को देती हूँ। इसमें किसी को भी हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

उनका अन्तिम संस्कार उनकी वसीयत के अनुसार ही किया गया।

कुछ तड़प–कुछ झड़प

प्रा. राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

क्षमा कीजियेगा– मैं सदा स्वयं को व्यस्त रखता हूँ, परन्तु इन दिनों तो ऋषि-मिशन के लिये समर्पित कई कृपालुओं की प्रेरणा से एक विशेष कार्य को सिरे चढ़ाने में व्यस्त हूँ। इसे करने में लगा तो माननीय डॉ. कुशलदेव जी के ग्रन्थ 'महर्षि दयानन्द : काल और कृतित्व' से एक प्रमाण देने के लिये पृष्ठ उलटते-पलटते मन में यह विचार आया कि इस ग्रन्थ की अपनी लिखी १३ पृष्ठ की भूमिका भी छपने के पश्चात् एक बार ध्यान से पढ़नी चाहिये। सम्भव है कोई मुद्रण-दोष हो अथवा अनजाने से कोई चूक हो गई हो।

इसे देख रहा था तो झट से एक भूल मेरी पकड़ में आ गई। प्रूफ इसके मैंने तो पढ़े नहीं थे अन्यथा तभी सुधार हो जाता। पृष्ठ १५ पर लाहौर में मौरवी नरेश की सनातन धर्म सभा के शिष्टमण्डल से ऐतिहासिक भेंट की घटना देते हुए महाराजा का नाम लखधीर सिंह छप गया है। मैं कई बार यह लिख चुका हूँ कि तब वाघजी मौरवी नरेश थे जो विद्यार्थीकाल में राजकोट तथा फिर मुम्बई में ऋषि से भेंट कर चुके थे। श्री लखधीर सिंह ने सन् १९२६ में टंकारा में महर्षि की जन्म-शताब्दी की अध्यक्षता करते हुए अवश्य वाघजी की यह घटना सुनाई थी। उस समय लखधीर सिंह मौरवी की राजगद्दी पर थे। मुझे अपनी भूल पर दु:ख भी है और खेद भी।

एक और भूल– कर्नल प्रताप सिंह के एक भक्त से यह सुना था कि लाला लाजपतराय ने आरम्भिककाल में अपनी एक पुस्तक कर्नल प्रतापसिंह को समर्पित की थी। यह बात परोपकारी के मई प्रथम अंक में पृष्ठ ग्यारह पर भी मैंने लिख दी। मैंने लालाजी के आरम्भिककाल की सब पुस्तकें पढ़ी हैं और मेरे पास हैं। अब विचार आया कि लाला जी के 'भेंट' के शब्द तो देखे जायें कि तब क्या लिखा था। भेंटवाला पृष्ठ निकाला तो उक्त कथन मिथ्या निकला। वह ग्रन्थ तो किसी और को भेंट किया गया था। मैं वैसे ही भ्रमित हो गया। मैं भूल के लिये क्षमाप्रार्थी हूँ। वैसे एक दिन पुन: लालाजी की आरम्भिककाल की सब पुस्तकों के भेंट के शब्द देखूँगा। ऐसी कोई जानकारी मिली तो फिर निवेदन कर दूँगा।

एक और भूल– महात्मा मुंशीराम जी, श्री पं. भगवद्दत्त जी, डॉ. वेदपाल आदि ने महर्षि दयानन्द जी के बलिदान के पश्चात् ऋषि के पत्र-व्यवहार तथा पाण्डुलिपियों को चुराने-छिपाने के लिये मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या की कड़े शब्दों में पोल खोली है। पं. लेखराम जी तथा महात्मा मुंशीराम जी के दुर्लभ लेखों के आधार पर मैं भी इस पर बहुत कुछ लिख चुका हूँ। कुछ एक महानुभाव जानते हुए भी और कुछ अनजाने में इसकी बहुत बड़ाई करते रहे हैं।

मैंने इन्हीं दिनों किसी लेख में भूलवश यह लिख दिया कि अजमेर के श्री कमलनयन द्वारा ऋषि के नाम लिखा गया अन्तिम पत्र डॉ. वेदपाल जी वाले पत्र-व्यवहार में नहीं है। मेरे पुस्तकालय की पुस्तकें इन दिनों इधर-उधर हो गईं। तब मुझे पत्र-व्यवहार न मिला। डॉ. वेदपाल जी ने भी यह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पत्र दिया है। मिलान किये बिना मैं कुछ लिखने से सदा बचता हूँ। इस भूल का शूल मेरे हृदय में चुभ गया।

क्या कभी सोचा है?– आर्यसमाज तो मानता ही आया है। आर्यसमाज के घोर विरोधी, बड़े-बड़े निन्दक भी यह मानते आये हैं कि वर्तमान हरियाणा (जो पहले पंजाब में था) और पश्चिमी उत्तरप्रदेश का मेरठ का विस्तृत क्षेत्र अपने आरम्भिककाल के किन्हीं तप:पूतों के कारण आर्यसमाज का गढ़ माना जाता रहा है। आर्यसमाज यहाँ जन आन्दोलन का रूप लेकर देश-धर्म के लिये हितकर प्रत्येक कार्य में छाप लगाता रहा है। यह इतिहासकारों का कार्य है कि वे गहराई से खोज करके आर्यसमाज के जन-आन्दोलन बनने पर प्रकाश डालें।

क्या यह कोई छोटी बात है?– आश्चर्य का विषय तो यह है कि आर्यसमाज तथा ऋषि दयानन्द जी को कोसनेवालों, निन्दा करनेवालों ने जिस पुस्तक का सर्वाधिक उपयोग-प्रयोग किया वह थी '**दयानन्द छल कपट दर्पण**'। ईसाई, मुसलमान, मिर्ज़ाई, सनातनी हिन्दू, सिख, देवसमाजी

सबने आर्यसमाज के विरुद्ध विषवमन के लिये इस पुस्तक का लाभ उठाया। इस पुस्तक का लेखक भी हरियाणाा के गुड़गाँव क्षेत्र का ही निवासी था। वह था जीयालाल जैनी।

इस निन्दक की भी प्रशंसा करनी चाहिये कि इस सबसे बड़े ऋषिनिन्दक ने ऋषि की प्रशंसा भी जीभरकर की है। उसने ऋषि की प्रशंसा में क्या-क्या लिखा है, यह तो मैं कभी फिर लिखूँगा, आज तो मैं उसकी दो विशेष बातें लिखकर आगे बढ़ूँगा।

१. कर्नल अल्कॉट ने लिखा है कि उनकी थियोसोफ़िकल सोसाइटी की ३० अप्रैल १८७९ की बैठक में ऋषि दयानन्द सम्मिलित हुए। **न जाने उस गोरे अमरीकन वकील ने इतनी बड़ी गप्प गढ़ने** का दुस्साहस कैसे दिखाया। आर्यसमाज ने बल देकर कहा कि महर्षि तो ३० अप्रैल को सहारनपुर में थे ही नहीं। बैठक सहारनपुर में हुई और ऋषि तब देहरादून में थे। आर्यसमाज के विरोधियों में से सबसे बड़ा ऋषिनिन्दक जीयालाल जैनी अपनी इसी पुस्तक में कड़े शब्दों में अल्कॉट के झूठ गढ़ने की निन्दा करता है। आर्यसमाज उसकी इस पुस्तक का यह लाभ लेने में विफल रहा।

इसी पुस्तक में जीयालाल जैनी ने लिखा है कि जाति के उच्च शिक्षित वर्ग के लोगों को [जिनमें जैनी भी थे] ऋषि दयानन्द ने ईसाई मुसलमान बनने से बचा लिया। यह कोई छोटी बात नहीं कि वह इस उपकार को मानता है।

आज मैं इस विषय पर विस्तार से कुछ न लिखकर संक्षेप से कुछ विशेष प्रकाश डालूँगा। पं. इन्द्रजी आर्यसमाज के विस्तार पर लिखते हुए उत्तर भारत के कई नगरों में ऋषि की प्रचार-यात्राओं की चर्चा करते हुए रेवाड़ी (हरियाणा) का भी उल्लेख करते हैं। ऋषि जी ने रेवाड़ी में क्या किया? कितने दिन दिये? कितने व्याख्यान व शास्त्रार्थ आदि किये? किस-किस से मिले? किसके निमन्त्रण पर आये? वहाँ आने का परिणाम क्या निकला? इस विषय में आर्यसमाज और इतिहासकार, साहित्यकार और विचारक एक भी पंक्ति नहीं लिखते। क्या यह आर्यों की एक भूल नहीं है? जिस क्षेत्र ने आर्यसमाज को इस युग का सबसे बड़ा संन्यासी, त्यागमूर्ति, परोपकारी महात्मा सर्वानन्द और लोकप्रिय प्रचारक श्री पं. ताराचन्द जी वैदिक तोप जैसे रत्न दिये उस धरती पर महाराज दयानन्द की अमृतवर्षा और जन-जागरण पर इतिहास ने चुप्पी ही साध ली।

मेरे सामने इस समय लाला लाजपतराय लिखित उर्दू ग्रन्थ 'महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती' है। इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लाला जी ने २७-०८-१८९८ को हिसार नगर में बैठकर लिखा था। यह भी बताना रुचिकर होगा कि महर्षि के बलिदान के पश्चात् ऋषिभक्तों ने ऋषि-जीवनी के लिखने का कार्य लालाजी को ही सौंपा था। लालाजी ने ऋषि की रेवाड़ी-यात्रा पर मात्र चार पंक्तियाँ लिखी हैं। इन चार पंक्तियों में राव तुलाराम के पुत्र राव युधिष्ठिर सिंह के निमन्त्रण देने, ग्यारह व्याख्यान देने और रेवाड़ी से दिल्ली जाने की चर्चा है और कुछ नहीं। **हरियाणा** में और तो कहीं ऋषि को जाने तथा प्रचार करने का अवसर ही न मिला।

पं. बस्तीराम हरियाणा के लोककवि और मिशनरी ने ८० वर्ष तक निरन्तर प्रचार किया। उनका मिशनरी के रूप में जन्म इसी पावन धरा रेवाड़ी पर हुआ। आर्यसमाज इस क्षेत्र में जन-आन्दोलन बन पाया तो उसका सारा श्रेय रेवाड़ी तथा मेरठ को जाता है। मैंने इतिहास की यह गुत्थी सुलझा दी है। इस क्षेत्र के साथ अन्याय हुआ है। इस अन्याय के कारणों पर कुछ नहीं लिखूँगा। इतना तो अवश्य चाहूँगा कि इस महाभयङ्कर भूल का अब तो सुधार हो।

एक और विशेष निवेदन करके इस प्रसंग को समाप्त करता हूँ। जिस रेवाड़ी से हरियाणा में वेदभानु का उदय हुआ उसमें आर्यसमाज की स्थापना कब हुई? कैसे हुई? इस पर आज पर्यन्त न तो हरियाणा में किसी ने कभी उद्यम करके, कुछ खोज करके लिखा और न किसी अन्य ने। पं. लेखराम जो लिख गये उससे आगे पण्डित लेखराम जी की ही परम्परा के एक विद्वान् श्री लक्ष्मण आर्योपदेशक ने सन् १९१५ में यह लिखा कि कुछ समय के पश्चात् यहाँ आर्यसमाज स्थापित हो गया। इसके लगभग एक शताब्दी के पश्चात् पं. लेखराम जी की परम्परा के एक और ऋषिभक्त राजेन्द्र 'जिज्ञासु' ने यह खोज करके दी कि आर्यसमाज रेवाड़ी की स्थापना वहाँ के 'भगवत् भक्ति

आश्रम' में हुई और माता लाडकँवर को सर्वसम्मति से प्रधान चुना गया।

यह पता कौन लगावे?- एक लम्बे समय तक 'भगवत् भक्ति आश्रम' रेवाड़ी जन-जागरण और धार्मिक गतिविधियों का केन्द्र रहा। हमारे विद्वान्, तपस्वी, वहाँ आते-जाते रहते, जप-तप करते। साधु सुधानन्द जी मुझे साठ वर्ष पूर्व इस धर्म-कर्मस्थली पर लेकर गये। यह केन्द्र कब तक चला? कब ठप्प हुआ? यह इतिहास की खोज कौन करे? मेरा समय अब भागदौड़ का नहीं। देखें कौन सुनता है?

बुराई से टक्कर ये क्यों लें?- मैंने आर्यसमाज की महिमा पर कभी अपने एक भावपूर्ण गीत में लिखा था-

है बुराई, बुराई से लड़ना अगर
यह बुराई तो हम नित्य करते रहे

आज हिन्दुत्व की नई-नई परिभाषायें गढ़-गढ़ कर राजनेता तथा अर्द्धराजनेता देश और जनता को रिझाते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में और बीसवीं शताब्दी में नये-नये हिन्दुत्ववादी संगठनों का जन्म होता गया। वैसे हिन्दुत्व शब्द ही भारत में पहले कभी सुना-पढ़ा नहीं गया था। यह शब्द क्रान्तिवीर, शब्दशिल्पी वीर सावरकर की देन है। आर्यसमाज ने एक-एक बुराई से लड़ाई लड़ी और रक्तरंजित इतिहास रचा। किसी भी हिन्दुत्ववादी नेता व संगठन ने देश-जाति के किसी रोग के निवारण के लिये कोई आन्दोलन छेड़ा? कोई बलिदान दिया हो तो इतिहास से प्रमाण दिया जावे।

मोदी जी के प्रधानमन्त्री बनने पर श्री श्री रविशंकर ने दिल्ली में दक्षिण के वेदपाठियों से वेदगान करवाया था। इसकी बहुत प्रशंसा की गई। मैंने भी इसकी प्रशंसा करते हुए पूछा था, क्या वेदपाठियों में कोई ब्राह्मणेतर कुल में जन्मा वेदपाठी था? किसी ने भी इसका उत्तर न दिया। देश में, दक्षिण में, उत्तर में, मन्दिरों में सैंकड़ों नहीं सहस्रों बाल विधवायें मन्दिरों में चढ़ा दी जातीं थीं। वे देवदासियाँ कहलातीं और पतित जीवन व्यतीत करतीं। फिर भी हिन्दू नेता (गांधी जी भी) इस पाप को पाप न कह सके। किसी ने कुछ भी न किया। स्वामी श्रद्धानन्द जब इस बुराई के उन्मूलन करने का मन बना चुके तो उनका बलिदान हो गया। थोड़ा सही, परन्तु आर्यसमाज ने उनके उद्धार के लिये भी आवाज़ उठाई।

काशी में लाखों ब्राह्मण हैं। किसी हिन्दुत्ववादी ब्राह्मणकुल में जन्मी वेद की एक तो पण्डिता दिखा दें। आर्यसमाज ने इसके लिये भी आन्दोलन किया। इतिहास रचा। आर्यसमाज का काशी में एक उच्चकोटि का कन्या गुरुकुल है, जहाँ से आचार्या सूर्यादेवी जी जैसी वेद की विदुषी देवियाँ कार्यक्षेत्र में वेद-प्रचार कर रही हैं। उ. प्र. के माननीय मुख्यमन्त्री योगी जी तथा प्रधानमन्त्री मोदीजी के समाचार हम पढ़ते-सुनते रहते हैं। ये दोनों इस कन्या गुरुकुल में, वेद अनुसन्धान केन्द्र में कभी गये क्या? इस गुरुकुल की यात्रा करके, वेद के लिये जीवन भेंट करनेवाली देवियों के दर्शन करके, इनका सम्मान करके इन दोनों नेताओं का जन्म-जीवन धन्य-धन्य हो जाता। यहाँ कतई जाति-भेद नहीं। किसी भी कुल में जन्मी कन्या वेद का गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर सकती है। काशी के जन्माभिमानी ब्राह्मणों के दबाव में मोदी जी इस अद्‌भुत गुरुकुल में क्यों जावें? गंगा में डुबकी लगाने में ही उनका तो लाभ है।

दलित वर्ग को सुविधायें देने की सरकारें आज बहुत दुहाई देती हैं। काशी में कुछ विद्वानों ने संस्कृत के धर्मशास्त्रों के मर्मज्ञ ऊँचे विद्वानों पर कुछ ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। इनमें क्या किसी हिन्दुत्ववादी संस्था से जुड़ा ब्राह्मणेतर कुल में जन्मे विशेष रूप से दलित वर्ग में उत्पन्न विद्वान् का भी उल्लेख है तो कोई बताये। आर्यसमाज तो ऐसे अनेक प्रकाण्ड पण्डित दे चुका है यथा पं. भगवद्दत्तजी और आचार्य उदयवीर जी आदि। काशी के पण्डित तो आर्यपुत्री कल्याणी देवी का वेदाध्ययन करना सहन न कर पाये तो इतना आगे की क्या सोचेंगे? कल्याणी देवी को वेदाध्ययन का अधिकार दिलाने के लिये आन्दोलन करना पड़ा।

बीसवीं शताब्दी के किसी हिन्दुत्ववादी संगठन ने विधवा-विवाह करवाने का यश पाया क्या? कोई एक तो उदाहरण दिया जावे? आर्यों के सिर फूटे, लहुलुहान हुए, बहिष्कृत हुए, परन्तु बैरिस्टर रोशललाल जी ने हरदेवी जी से विवाह करने का गौरव प्राप्त किया। एक सुशिक्षित बंगाली विधवा के विश्वगुरु विवेकानन्द जी के बंगाल में

पुनर्विवाह में कोई सहयोग न कर सका। एक आर्यनेता मुरलीधर ने स्वगृह पर यह विवाह संस्कार करवाने का यश लूटा। उस काल के पत्रों में इस घटना की चर्चा है। महात्मा मुंशीराम ने डटकर इसमें साथ दिया।

हरिद्वार का वह कुम्भ मेला- ऊँच-नीच के, जातिवाद के भेद मिटाता हुआ आर्यसमाज गुणों की, सदाचरण की पूजा करने का इतिहास रचता चला आ रहा है। कभी हरिद्वार के कुम्भ मेले पर एक तेजस्वी प्रतापी विद्वान् आर्यसंन्यासी अपने एक शिष्य के साथ वहाँ प्रचार करने के विचार से पहुँचा तो जिधर साधुओं की भीड़ थी, उधर को चल पड़ा। सामने अपने-अपने सैंकड़ों और सहस्रों चेलों के साथ कई मण्डलेश्वर डेरा डाले बैठे थे। एक ऐसे बड़े मण्डलेश्वर ने दूर से आते हुए आर्यसंन्यासी को पहचान लिया। वह महाराज के तप, तेज, ब्रह्मचर्य, बलिदान और विद्या को जानता था।

स्वामी जी कुछ आगे बढ़े तो वह ऊँची आवाज़ से यह कहते हुये उठ खड़ा हुआ, ''वह स्वतन्त्र स्वामी आ गये।'' वह बड़ी श्रद्धा से चरणस्पर्श करके उनका स्वागत करता है। सब खड़े हो गये। बस फिर क्या था स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज के चरणस्पर्श करने की होड़ लग गई। जाट कुल में जन्मे हमारे पूज्य संन्यासी का जाति-कुल पूछे बिना भारी भीड़ द्वारा अभिवादन अपने आप में एक अनूठा इतिहास है। हिन्दू समाज में ऐसी कोई घटना शायद ही मिलेगी।

आधुनिक काल में- आधुनिक काल में दक्षिण भारत में वेदपाठी ब्राह्मणों ने एक बहुत बड़ा यज्ञ रचाया। उनमें से कुछ एक ने कहीं डॉ. वेदपाल के वेद-प्रवचन सुने थे। वे लोग वेदपाठी तो थे, परन्तु वेद में क्या है यह नहीं बता सकते थे। उनके मन में भी ऐसे प्रवचन करवाने का विचार आया। उन्होंने भी डॉ. वेदपाल जी को वेद प्रवचन करने की विनती कर दी। उनकी वेदी पर उनके भक्त भी नहीं चढ़ सकते थे। न जाने उन्हें यह पता कैसे चल गया कि डॉ. वेदपाल जी का जन्म ब्राह्मण कुल में नहीं हुआ, परन्तु फिर भी श्रद्धा से बुला लिया। उनके भक्तों को पहली बार वेद ऋचाओं की ऐसी रोचक और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या सुनने को मिली।

शंकाराचार्य की धरती पर- परोपकारिणी सभा के भूतपूर्व प्रधान डॉ. धर्मवीर जी मेरे साथ केरल वेदप्रचार के लिये गये। श्रीमती ज्योत्स्ना जी भी साथ थीं। एक कार्यक्रम में मेरी अथवा स्वामी दर्शनानन्द जी केरलीय की वेद-महिमा पर एक पुस्तक का विमोचन होना था। उपस्थिति और हो जावे इस कारण विलम्ब होता गया। मैंने धर्मवीर जी को कहा और विलम्ब न करें। कार्यक्रम आरम्भ करते हैं। मुझे वाक्य पूरा करने ही न दिया और धर्मवीर जी ने ज्योत्स्ना जी को वेद-ऋचाओं का गान करने को कहा। यही तो मैंने कहना था। हमारी वहाँ यह परम्परा रही है कि वेद-विषयक प्रत्येक कार्य में महिला की प्रधानता हो। जब ऋषि के वेदभाष्य का मलयालम में अनुवाद छपा तो त्रिवेन्द्रम की राजमाता से हमने विमोचन करवाकर शंकराचार्य जी की भेदभाव की दीवारें हर बार भूमि पर बिछा दीं। हमारा विरोध तो कोई कर नहीं सका, परन्तु हिन्दू संगठनों में आज भी ऐसा कर दिखाने का साहस नहीं

आर्यसमाज की विलक्षणता विशेषता क्या?- इसी युग के आर्यसमाज के इतिहास का एक और पृष्ठ यहाँ रखा जाता है। जब देशभर में कांग्रेस सत्ता में थी तब एक बार आन्ध्र में हाफ़िज मुहम्मद इब्राहिम राज्यपाल नियुक्त किये गये। वह ज़िला बिजनौर से सम्बन्ध रखते थे। आर्यसमाज को बिजनौर ज़िला में हर कोई थोड़ा-बहुत जानता ही है। हाफ़िज जी भी कुछ-कुछ जानते थे, परन्तु उन्हें आर्यसमाज का विशेष ज्ञान नहीं था।

उनके वहाँ होते हैदराबाद में एक सर्वधर्म सम्मेलन आयोजित किया गया और हाफ़िज मुहम्मद इब्राहिम को उसका अध्यक्ष बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कई मत पन्थों के प्रतिनिधि आये। सबने अपने-अपने मत का दृष्टिकोण व विशेषता वहाँ रखने का अच्छा प्रयास किया। आर्यसमाज की बारी आई तो श्रीमती सुशीला जी विद्यालंकृता आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में मञ्च पर पहुँचीं तो हाफ़िज जी ने कहा, मैं आज आर्यसमाज के प्रतिनिधि से यह प्रार्थना करता हूँ कि वह आर्यसमाजी विचारधारा की कोई विशेषता विलक्षणता सबके सामने रखें।

यही तो विलक्षणता है- यह सुनकर सुशीला जी ने माइक के सामने आकर कहा कि मैं आर्यसमाज की

विलक्षणता विशेषता बोलकर क्या बताऊँ? मेरा आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में इस सम्मेलन में बोलना अपने आप में एक विलक्षणता तथा विशेषता है। क्या आप सब देख नहीं रहे कि सब मत-पन्थों का प्रतिनिधित्व पुरुष कर रहे हैं। एक आर्यसमाज का प्रतिनिधित्व मैं (एक महिला) कर रही हूँ। इतना कहना था कि उस विराट् सम्मेलन में उपस्थित अधिकांश हिन्दुओं ने भी आर्यसमाजियों के साथ करतलध्वनि के साथ सभास्थल को गुञ्जा दिया। प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता। हिन्दुओं में रामचरितमानस, हनुमान चालीसा का पाठ तो स्त्रियाँ करती हैं। प्रतिनिधि के रूप में हिन्दू महिलाओं का स्थान क्या है? यह सब हिन्दू जानते हैं। **आर्यसमाज अपनी पहचान को बना कर रखे। देश जाति का हित भी इसी में है।**

गन्ने को कोसते जाओ- ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज की एक आनन्ददायक उपलब्धि यह है कि सन् १९०१ की जनगणना में बंगाल, महाराष्ट्र, मद्रास आदि प्रदेशों में दो-दो तीन-तीन वर्ष की जहाँ सहस्रों बालविधवायें थीं वहाँ आज बाल-विवाह के समर्थक बड़े-बड़े धर्माचार्यों में से आपको कहीं भी एक भी ऐसा नहीं मिलेगा जिसने अपनी पुत्री का बाल-विवाह किया हो। बाल-विवाह के पक्ष में अब तो बोलने-लिखनेवाले कोई विद्वान् काशी में भी दिखाई नहीं देते, फिर भी ये लोग कभी इन बुराइयों से बचने के लिये कृतज्ञता से ऋषि दयानन्द और स्वामी श्रद्धानन्द के प्रति कभी दो शब्द नहीं कहते। राजनीति में अब बढ़-चढ़ कर दलितों के लिये 'सबका विकास' की बात करते हैं 'अछूत' शब्द उनके मुख से किसी ने नहीं सुना। **यह किसकी दया व पुण्य प्रताप से क्रान्ति हो गई?** कौन नहीं जानता कि यह ऋषि दयानन्द की दया का फल है।

इन लोगों की नीति यह है कि गुड़ का स्वाद लेते जाओ और गन्ने को कोसते जाओ। इनमें से किसने ऊँच-नीच मिटाने के लिये कोई बलिदान दिया?

स्वामी भीष्म की आयु १२३ वर्ष?- परोपकारी के मई प्रथम अंक के पृष्ठ २४ पर मेरी दृष्टि स्वामी भीष्म जी की आयु १२३ वर्ष पर पड़ी तो मैंने परोपकारी वहीं रख दिया। आर्यसमाज को मिथ्या कथन के पाप से बचाने के लिये मुझे यह प्रतिक्रिया देनी पड़ रही है। हिन्दी रक्षा सत्याग्रह में भीष्म जी ने तथा महाशय रौनक सिंह जी ने मेरे साथ सत्याग्रह किया। वे दोनों तब पकड़े न गये। प्रेसवाले भीष्म जी से बहुत छोटे रौनक सिंह जी के समाचार तो देते थे, परन्तु किसी ने भीष्म जी को ९६ वर्ष का न माना और न लिखा। इन्होंने भी किसी को तब ऐसा न कहा। मुझे क्या कहा? यह न देकर सत्यान्वेषी महाशय से कहूँगा कि हिसार के श्री सत्यपाल जी आर्य से आर्यसमाज हिसार की आयु विषयक घटना अवश्य सुन लें।

स्वामी भीष्म के अभिनन्दन में इनके जन्म के चार सन संवत् कोई भी पढ़ ले। उसी सम्पादक ने एक ग्रन्थ में न तो इनकी आयु लिखी है और न जन्म का वर्ष लिखा है। सत्य लिखना सबके भाग्य में नहीं होता। इनकी मानें तो सन् १९२६ में आप ५५ वर्ष के थे। स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान तक इतने अनुभवी, कर्मठ साधु का नाम तक पत्रों के समाचारों में नहीं मिलता। सत्य कथन मीठा नहीं होता। माधुर्य को इससे चिढ़ होती है। सो मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

विद्या के कोष की रक्षा व वृद्धि राजा व प्रजा करें

वे ही धन्यवादार्ह और कृत-कृत्य हैं कि जो अपने सन्तानों को ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा और विद्या से शरीर और आत्मा के पूर्ण बल को बढ़ावें जिससे वे सन्तान मातृ, पितृ, पति, सास, श्वसुर, राजा, प्रजा, पड़ोसी, इष्ट मित्र और सन्तानादि से यथायोग्य धर्म से वर्त्तें। यही कोष अक्षय है, इसको जितना व्यय करे उतना ही बढ़ता जाये, इस कोष की रक्षा और वृद्धि करने वाला विशेष राजा और प्रजा भी है।

(सत्यार्थ प्रकाश सम्मुलास ३)

ऐतिहासिक कलम से....

सिंहावलोकन-१८५७ के गदर में स्वामी दयानन्द

लेखक- पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय

प्रस्तुति- भावेश मेरजा

भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। इस शुभ समाचार को सुनते ही प्रसन्नचित्त भारतीयों में स्वतन्त्रता की उमंगे जागने लगी हैं और उन्होंने स्वभावत: कल्पनाओं के करने में भी स्वतन्त्रता प्रकट की है। १८५७ ई. का गदर क्या था, इस विषय की आलोचना करने का यह स्थल नहीं है, परन्तु हम यही विचार करना चाहते हैं कि स्वामी दयानन्द का गदर में क्या भाग था।

हम सुनते थे कि इतिहास घटनाओं का उल्लेख है, परन्तु कुछ इतिहासज्ञों ने अनुमान और कल्पनाओं को भी इतिहास में स्थान दिया है। यदि यही हाल रहा तो किसी पुरुष विशेष के विषय में तथ्य जानना सुगम न होगा।

मेरी समझ में आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द के विषय में, जिनका सत्यार्थप्रकाश ही सत्यप्रियता का द्योतक है, इस प्रकार की कल्पनायें करना सर्वथा अन्याय है। ऋषि दयानन्द की अपनी कृति इतनी उज्ज्वल है कि मान या कीर्ति को बढ़ाने के लिये किसी कल्पना या अनुमान की आवश्यकता नहीं और यदि कोई भक्त अपनी कल्पनाशक्ति को इतिहास के नाम से सम्बद्ध करता है तो वह संसार का अहित ही करता है।

अभी कुछ दिनों से यह बात बड़े वेग से फैलायी जा रही है कि ऋषि दयानन्द ने १८५७ के विद्रोह में बहुत बड़ा भाग लिया। इसका श्रेय दो प्रमुख सज्जनों से आरम्भ होता है। एक तो है श्री पृथ्वीसिंह मेहता जिन्होंने 'हमारा राजस्थान' लिखा है और दूसरे श्री जयचन्द्रजी विद्यालंकार। ये दोनों आधुनिक इतिहासज्ञ समझे जाते हैं। इतिहास की अन्य खोजों के विषय में मैं कुछ नहीं कहता, परन्तु ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों को मैं पढ़ता हूँ और उनकी विचारधारा तथा उनके मन्तव्यों तथा कार्यप्रणाली का मुझे उनके ग्रन्थों से आभास मिला है। उनकी स्वयं बताई जीवनी भी अभी मिलती है। उनके आधार पर मुझे इन कल्पनाओं को देखकर आश्चर्य और खेद होता है। जो ऐसी गाथायें प्रचारित करके ऋषि के यश को बढ़ाने का श्रम कर रहे हैं, वे भूल करते हैं। **ऋषि को उतना ही रहने दो जितने वे हैं। इससे अधिक की चेष्टा मत करो।**

श्री पृथ्वीसिंहजी ने जो कुछ लिखा है वह सर्वथा अनिश्चित है और श्री जयचन्द्रजी ने उनको आशीर्वाद दिया और कल्पना को खोज के नाम से सुशोभित किया। इस पर मैंने श्री हरविलास सारडाजी को लिखा कि आपकी क्या राय है। उन्होंने लिखा कि यह Hoax मात्र है अर्थात् झूठी कल्पना है। श्री महेशप्रसादजी ने भी 'आर्यमित्र' में ऐसा ही लिखा है। उस समय तक मैंने 'राजस्थान' पुस्तक पढ़ी नहीं थी। श्री पं. धर्मदेवजी ने 'सार्वदेशिक' से मेरा लेख यह कहकर रोक लिया था कि वे श्री जयचन्द्रजी को लिख रहे हैं, क्योंकि उपदेशकों और प्रचारकों ने तो लम्बी डींगें मारना और नमक-मिर्च मिलाकर स्वामी दयानन्द की जीवनी को मज़ेदार कचालू बना डाला। हमारे वक्तागण तो विचित्र बात के लिये उधार खाये बैठे रहते हैं और फ़ारसी की **'पीरां नमे परन्द मुरीदां मे परानन्द'** [**पीर नहीं उड़ते मुरीदों-चेलों ही उन्हें उड़ा देते हैं**] की कहावत को चरितार्थ करते हैं।

श्री मेहता पृथ्वीसिंहजी के 'राजस्थान' का ऐतिहासिक मूल्य क्या है, यह इस लेख का विषय नहीं है, परन्तु जो कल्पनायें ऋषि दयानन्द के विषय में की गई हैं, वे न इतिहास हैं न इतिहास की खोज। मस्तिष्क की उपज अवश्य हैं। हम उसके कुछ उद्धरण देते हैं -

(१) १८५६ के मई मास में वह नाना के नगर कानपुर गया और आगे पाँच मास तक कानपुर-इलाहाबाद के बीच चक्कर काटता रहा।

(२) फिर बनारस, मिर्जापुर, चुनार होकर मार्च १८५७ में जब क्रान्ति की तैयारियाँ लगभग पूरी हो चुकीं और नानासाहब के सैकड़ों सन्देशवाहक साधुओं, फ़कीरों आदि के रूप में पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन देश के हर कोने में क्रान्ति का सन्देश लेकर रवाना हुये और स्वयं नानासाहब और अज़ीमुल्ला भी क्रान्ति आरम्भ करने की तारीख निश्चय

कर उसकी सारी तैयारी अपनी आँखों से देखने को तीर्थ-यात्रा करने निकले तब दयानन्द भी बनारस से मिर्जापुर, चुनार होकर नर्मदा के स्रोतों के लिये दक्खिन की ओर निकल पड़ा। (पृ. २६८-२६९)

भाषा रोचक है और कल्पना की साधक है, परन्तु इसमें इतिहास की कौन-सी बात है? स्वामी दयानन्द बहुत दिनों से गंगा के तट पर घूमते रहे। हरिद्वार के कुम्भ से ही, परन्तु क्या वह क्रान्तिकारियों के साथ थे? कानपुर का सम्बन्ध नानासाहेब से है, परन्तु नाना और दयानन्द की प्रवृत्तियाँ इतनी भिन्न-भिन्न थीं कि स्वामी दयानन्द का नाम नाना के साथ जोड़ना बड़ा अनर्थ है। स्वामी दयानन्द के जीवन की किसी घटना से यह सिद्ध नहीं होता कि वह 'नानासाहब के सैकड़ों सन्देशवाहक साधुओं और फ़कीरों आदि के रूप में' भ्रमण करते रहे हों। उनका गंगा के तट पर फिरने का प्रयोजन ही और था। केवल साहसी और निर्भीक होने के नाते यह नहीं कहा जा सकता कि वह नाना के एजेण्ट रहे हों और यदि वह नाना के एजेण्ट न थे तो और थे भी क्या, जिसकी ओर श्री मेहताजी का संकेत है? स्वामी दयानन्द जो चाहते थे, उसके लिये क्रान्ति का वायुमण्डल सर्वथा अनुपयुक्त था। क्या यह सम्भव नहीं है कि इसीलिये वह नर्मदा की ओर चले गये हों या यह सम्भव नहीं है कि उनको क्रान्ति से कोई सम्बन्ध न हो। गदर के बाद का स्वामी दयानन्द का जीवन पूरा विश्वास दिलाता है कि उनका क्रान्ति से सम्बन्ध नहीं था, चाहे वह क्रान्ति उचित थी या अनुचित। मेहताजी की कलम से एक वाक्य तो निकल ही गया- "यह कहना कठिन है कि क्रान्ति-युद्ध या उसके संगठन के प्रति उसका रुख क्या रहा और उसने भी उसमें कोई भाग लिया या नहीं।" (पृ. २६८-२६९)

यदि यह कहना कठिन है तो यह कल्पना करना भी कठिन होना चाहिये था और विशेषकर उत्तरदायित्वपूर्ण इतिहासकार के लिये। उपन्यासकार को तो पूर्ण स्वतन्त्रता है। आकाश-पाताल को जहाँ से चाहे मिला दे, परन्तु मालूम नहीं कि मेहताजी ने इस कल्पना को करने की क्यों जरूरत समझी और उस कल्पना पर बहुत बड़ा भवन कैसे बना दिया। स्वामी दयानन्द ऐसे भीरु या उत्तरदायित्वशून्य नहीं थे कि फुलझड़ी छोड़कर स्वयं अलग हो जाते और आयुभर कभी उसका उल्लेख भी नहीं करते। राजनीति के विषय में भी उन्होंने जो कुछ सोचा स्पष्ट लिख दिया। एक बात भी छिपाई नहीं और न किसी को इस प्रकार का काम करने की शिक्षा ही दी, परन्तु मेहताजी स्वामी विरजानन्द को भी इसमें शामिल किये बिना नहीं रहते। कैसा मज़ेदार वाक्य है- "उस समय शास्त्रों के अध्ययन के अतिरिक्त देश की दशा पर भी दोनों गुरु-शिष्य का संवाद एकान्त में होता था, जिसमें उन दोनों के सिवाय वहाँ तीसरा कोई व्यक्ति रहने नहीं पाता था।" (पृ. २७०)

हमने उपन्यासकारों को प्रेमी-प्रेमिकाओं की गुप्त वार्ताओं का हाल लिखते देखा है, मानो लेखक तो अदृष्ट रूप से वहाँ ही छुपा हुआ था, परन्तु आज तक किसी इतिहासज्ञ ने यह दावा करने का साहस नहीं किया कि जहाँ कोई तीसरा न जा सका वहाँ वह तो अवश्य ही सुनता रहा। यदि वहाँ कोई तीसरा न जा सका तो श्री मेहताजी कैसे पहुँच गये और उनको कैसे मालूम हो गया कि गुरु-शिष्य क्रान्ति की ही योजना करते रहे? यह सब पर विदित है कि स्वामी विरजानन्द राजाओं द्वारा शास्त्रार्थ कराना चाहते थे। शास्त्रार्थ ही उनको प्रिय था। स्वामी दयानन्द को भी उन्होंने आर्ष-अनार्ष ग्रन्थों के विषय में शिक्षा तथा दीक्षा दी थी। वही उनका विषय था, क्रान्तिकारी लोगों का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था। उन्हें आर्ष-अनार्ष से क्या प्रयोजन? यदि विरजानन्द में नैतिकता न होती तो वह कभी स्वामी दयानन्द को कौमुदी पर जूता लगाने को न कहते और स्वामी दयानन्द की विचारधारा ही और प्रकार की होती। क्रान्ति का मार्ग इतना चक्करदार नहीं होता। क्रान्ति के लिये संगठित करने के लिये मूर्ति-खण्डन और पण्डितों से शास्त्रार्थ की आवश्यकता न थी। ग्वालियर जाकर भागवत का खण्डन करनेवाला सामयिक संगठन को कैसे कर सकता था?

मैंने श्री जयचन्द्रजी से पूछा कि आपके पास इसके लिये कुछ ठोस प्रमाण भी है? तो वह कहने लगे कि "क्रान्ति के सम्बन्ध में शिलालेख नहीं हो सकते।" परन्तु यह तो नकारात्मक प्रमाण हुआ। क्या जहाँ शिलालेख न

मिले वहाँ इस युक्ति के आधार पर मनमानी कल्पना करना उचित है? इतिहास तो सर्वथा सत्य पर आश्रित होना चाहिये। मालूम नहीं कि जो लोग इतिहास में झूठ मिलाने के लिये अंग्रेजों को दोष दिया करते हैं, वे दोष-प्रेम से प्रेरित होकर स्वयं कल्पनायें करने में क्यों संकोच नहीं करते? नीचे के वाक्य पढ़िये-

''यह बात मान लेना आसान नहीं कि दयानन्द के सदृश भावना-प्रवण और चेतनावान ह्दय और मस्तिष्क का युवक उसके प्रभाव से अछूता बचा रहा हो।'' ''अत: उसकी उन तीन वर्षों के बारे में यह चुप्पी भी कम अर्थ-भरी प्रतीत [नहीं] होती।'' (पृ. २६९)

'प्रभाव से अछूता बचने' का क्या अर्थ? जब देश में कोई बहुत बड़ी घटना होती है तो कोई अछूता नहीं बचता, परन्तु क्या यह बात मान लेना आसान है कि स्वामी दयानन्द जैसे साहसी, भावनापूर्ण और चेतनवान युवक प्रवृत्ति और इच्छा होते हुये किसी आन्दोलन में केवल गौण भाग ही लेवे और केवल 'चुप्पी' साध जाय?

स्वामी दयानन्द स्पष्टवादिता में प्रमुख थे। उन्होंने अपने विरोध में क्या कुछ नहीं सहा। फिर भी वह सच कहने से न चूके। यदि उनको यह अभिमत होता कि उनको उस क्रान्ति में भाग लेना चाहिये, तो मेरा विश्वास है कि वे कभी पीछे नहीं रहते। किसी का सन्देशवाहक बनना उनको प्रिय न था। शायद सह्य भी न था। साधारण राजनीतिज्ञों के समान वह पगडण्डी पर चलना भी अच्छा नहीं समझते थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि परतन्त्रता महारोग होते हुये भी यह अन्य दोषों के कारण उत्पन्न होती है। भारत में उस समय तक परतन्त्रता नहीं आने पाई जब तक वह धर्मपरायण रहा और इसीलिये उन्होंने मौलिक सिद्धान्त का प्रचार सब से पहले करना आवश्यक समझा। साधारण राजनीतिक समझौते के लिये सदा उद्यत रहते हैं, परन्तु ऋषि दयानन्द सत्यता में किसी से समझौता नहीं करना चाहते थे। इस विषय में स्वामी दयानन्द की नीति महात्मा गांधी आदि नीतिज्ञों की नीति से सर्वथा भिन्न थी। इसलिये उनकी रुचि, प्रवृत्ति, वचन तथा क्रिया किसी से भी श्री मेहताजी या श्री जयचन्द्रजी की कल्पनाओं की पुष्टि नहीं होती। ऋषि जो कुछ थे उतना उनके पक्ष और गुरुत्व के लिये पर्याप्त था। जो वह नहीं थे, उनको वैसा दिखाना केवल इसलिये कि किसी विशेष मनुष्य-समूह में उनका यश बढ़ जाय, उनके साथ घोर अन्याय है। सत्य के पोषक गुरु के अनुगामी भी सत्य-प्रिय होने चाहिये।

श्री मेहताजी के दो और इतिहासज्ञतापूर्ण उद्धरण पढ़िये-

(१) १८७३ में बनारस जाकर वहाँ के सभी चोटी के पौराणिक पण्डितों को उसने शास्त्रार्थ में हराया। (पृ. २७१)

हमारा इतिहास का ज्ञान अत्यन्त अल्प है, अत: हम यह नहीं समझ सके कि १८७३ का वर्ष जिसमें श्री मेहताजी स्वामी दयानन्द का बनारस के चोटी के पण्डितों को हराना बताते हैं, वह विक्रमी सम्वत् है या ईस्वी या श्री मेहताजी कल्पित किसी अन्य युगान्तर-प्रेरक का। ऋषि दयानन्द की वर्तमान जीवनियों से तो प्रकाश मिलना कठिन है।

दूसरा उद्धरण लीजिये। वह भी अपनी खोज की विशेषता में अद्वितीय ही है-

(२) उसके छठे राजधर्म सम्बन्धी समुल्लास में निबद्ध विचारों का चिन्तन सम्भवत: महाराणा सज्जनसिंह को दिये राजनीति और धर्म-सम्बन्धी पाठों के सिलसिले में ही हुआ। (पृ. २७९)

क्या हम उसको खोज कहेंगे? यह बात तो ऐसी है जो मेहताजी से पहले किसी को नहीं सूझी। पहला सत्यार्थप्रकाश सन् १८७४ में लिखा गया और १८७५ में छपा, उसमें छठा समुल्लास विद्यमान है। जब मैंने श्री मेहताजी का इतिहास पढ़ा तो मुझे अपनी स्मृति पर से श्रद्धा उठ गई और मैंने आदिम सत्यार्थप्रकाश को निकालकर छठे समुल्लास को फिर पढ़ा। वह महाराणा सज्जनसिंह की भेंट से बहुत पूर्व लिखा जा चुका था। श्री मेहताजी यदि उसे देख लेते तो 'सम्भवत:' शब्द की आड़ न लेनी पड़ती।

मैंने यह सब इसलिये लिखा है कि सत्य की स्थापना के लिये असत्य का आश्रय लेने की प्रवृत्ति आर्यसमाज के लिये हितकर नहीं है। यद्यपि बहुत-से लोग हैं जो व्यवहार में मेरे साथ सहमत नहीं है।

स्रोत-'आर्यमित्र' ८ मार्च १९५१, पृ. १०-११ पर प्रकाशित लेख।

पुरोहितम्- अर्थ विचार

डॉ. वेदपाल

ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है-

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारं रत्नधातमम्।।

इस मन्त्र में 'अग्नि' पद विशेष्य तथा 'ईडे' क्रियापद है। शेष पद- 'पुरोहतम्'-'यज्ञस्य देवम्'-'ऋत्विजम्'-'होतारम्'-'रत्नधातमम्' 'अग्नि' के विशेषण हैं। ये पाँचों पद 'अग्नि' की विशेषताओं को प्रकट करते हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने मन्त्र पठित 'अग्नि' पद से परमेश्वर तथा भौतिक अग्नि-इन दोनों का ग्रहण किया है। महर्षि ने मन्त्र के संस्कृत भाष्य में अपने अर्थ के समर्थक प्रमाण रूप में- वेद का अन्त:साक्ष्य, शतपथ ब्राह्मण, यास्कीय निरुक्त, मनुस्मृति तथा पाणिनिकृत अष्टाध्यायी को उद्धृत किया है।

महर्षि के समय भी उस समय के प्रमुख विद्वान् पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि ने आपत्ति की थी, कि 'अग्नि' पद से केवल भौतिक अग्नि का ही ग्रहण हो सकता है। महर्षि ने 'भ्रान्तिनिवारण' नामक पुस्तक में उन सब आक्षेपों का उत्तर दे दिया था।

अब हम अग्नि पद पर कोई विशेष विचार न करते हुए एक वीडियो में की गई इस मन्त्र की समीक्षा पर विचार कर रहे हैं। यह वीडियो श्री अल्लामा सैयद अब्दुल्ला तारिक का है। वीडियो का शीर्षक भी 'पुरोहितम्' है। इस वीडियो में 'पुरोहितम्' के अर्थ को लेकर विस्तार से चर्चा की गई है। यद्यपि वक्ता ने ग्रीफिथ, सातवलेकर, श्याम शर्मा के भाष्य (पुरोहितम् शब्द के अर्थ) को उद्धृत किया है, किन्तु उनकी वक्र दृष्टि केवल महर्षि भाष्य पर है।

अल्लामा ने **ग्रीफिथ कृत अर्थ- ''चुना हुआ पुजारी'', सातवलेकर कृत- ''पुर=नगर/शहर+हित= हितकारी''** अर्थात् जो बड़ी संख्या में लोगों का हितकारी हो, अधिसंख्य लोगों का भला करने वाला हो। श्याम शर्मा कृत-**पुरोहित= आगे रहने वाला- आगे बढाने वाला**- इन अर्थों को उद्धृत कर महर्षि कृत- **''पुरोहितम्=उत्पत्ति के समय से पहिले परमाणु आदि सृष्टि के धारण करने''** को अपनी आलोचना का विषय बनाया है। वीडियो में महर्षि के पुरोहित पद के संस्कृत भाष्य- **''पुरस्तात् सर्वं जगत् दधातिछेदनधारणाकर्षणादिगुणांश्चापि तम्''** को अपरामृष्ट ही छोड़ दिया गया है। आलोचना को संक्षेप में निम्नवत् रख सकते हैं-

१. पुरोहितम् का यह अनुवाद कैसे हुआ? अर्थात् इसका आधार क्या है?

२. महर्षि ने अपना अकीदा-विश्वास-सिद्धान्त मन्त्र पर आरोपित कर दिया है।

३. अल्लामा की दृष्टि में सातवलेकर जी का अर्थ- **पुर+हित-नगर का हितकारी-सर्वाधिक सही है।**

अल्लामा किस अर्थ को सही मानें, यह उनकी इच्छा, किन्तु तुलना करते हुए यह कहना कि-यह अर्थ कहाँ से आया? इसे स्वामी जी बता सकते हैं या आँख बन्द करके उनके अकीदतमन्द बता सकते हैं। साथ ही अल्लामा जिन शब्दों को चाहकर भी स्वयं नहीं कह पा रहे थे, क्योंकि वह बार-बार कहते हैं कि मैं बायस्ड नहीं हूँ। उन्हें कहलवाने-कहने के लिए बीच में ही महर्षि भाष्य की आलोचना के लिए किन्हीं-'किरन कृष्णन्' की वीडियो टिप्पणी के कुछ अंश उद्धृत किये हैं-जिनमें महर्षि भाष्य का स्तर पांचवीं कक्षा की सोशल स्टडीज, आठवीं कक्षा के विज्ञान के स्तर के समकक्ष कहा है। भाष्य में **बेईमानी**, **मैनुप्लेशन** तथा **खींचातानी** बताई गई है। साथ ही यह भी कहा गया है कि **'आप कभी जान ही नहीं सकते कि अर्थ कहाँ से आया?'**

अल्लामा के आक्षेप पर विचार-

१. पुरोहितम्- ''उत्पत्ति के समय के पहिले परमाणु आदि सृष्टि के धारण करने''- महर्षि कृत हिन्दी अर्थ

अर्थ का आधार- पुर: हितम्। 'पुर:' पद का मूल 'पूर्व' (दिशा, देश, कालवाचक) शब्द है। **'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्'**-अष्टा. ५.३.३९ सूत्र से पूर्व शब्द से 'अस्ताति' अर्थ में 'अस्' प्रत्यय तथा 'पूर्व' को 'पुर्' आदेश होकर-पूर्व पुर्+अस् = पुरस् = पुर: शब्द निष्पन्न होता है। धारण-पोषण अर्थवाली 'धा' धातु से

भूतकाल की विवक्षा में '**क्त**' प्रत्यय= धा+क्त, '**दधातेर्हिः**'- अष्टा. ७.४.४२ सूत्र से तकारादि कित् (क्त प्रत्यय के क् की इत् संज्ञा होने से अवशिष्ट 'त' तकारादि कित् है।) प्रत्यय परे होने पर 'धा' को 'हि' आदेश होकर=हि+त=हितः/ हितम् रूप बनता है।

पुरः+हितम्-पुरः के विसर्ग को सत्व, रुत्व-गुण होकर '**पुरोहितम्**' शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका अभिधेय पूर्णतः स्पष्ट है कि जो **पूर्वकाल** (सृष्टि उत्पत्ति से पूर्व) **में धारणकर्त्ता है, वह पुरोहित है।** अग्नि-परमेश्वर का विशेषण होने से स्पष्ट हो रहा है, कि वह अग्नि ही सृष्टि के कार्यरूप में परिणत होने से पहले जगत् के कारणरूप परमाणुओं को धारण करने से '**पुरोहित**' है। **यह उसकी विशेषता है।**

यास्क जिसका काल आधुनिक एवं पश्चिमी विद्वान् ८०० वर्ष ईसा पूर्व (800 B.C.) मानते हैं, कि महत्त्वपूर्ण कृति निरुक्त जिसे सभी वेदाध्येता महत्त्वपूर्ण मानकर वेदभाष्य में उपयोग में लेते हैं, को भी एक बार देख लिया होता, तो महर्षि पर मनमानी का आक्षेप न लगाते। यास्क पुरोहित का निर्वचन करते हैं- '**पुर एनं दधति**'- निरुक्त २.१२ अर्थात् **सृष्टेः प्राक् एनं परमाणुरूपम् इदं जगत् दधाति।**

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि 'अग्निम्' का एक अन्य विशेषण '**होतारम्**' भी है। यह 'हु' दानादनयोः धातु से '**तृन्**'-अष्टा. ३.२.१३५ सूत्र से 'तृन्' प्रत्यय होकर निष्पन्न है। इसका अर्थ है-देना (यहाँ सर्ग काल में कारण को कार्य रूप में परिणत करना) तथा अदन (प्रलय में अदन-भक्षण= कार्य को पुनः कारण में परिवर्तित कर देना) है। यह भी पुरोहितम् पद के महर्षि कृत अर्थ का समर्थक है। वेदान्त दर्शन में भी ईश्वर को अदन करने वाला (प्रलय काल आने पर चर-अचर=चेतन एवं जड़ जगत् को ग्रहण करता है।) कहा है-

'**अत्ता चराचरग्रहणात्**' वेदान्त दर्शन-१.२.९

इस प्रकार महर्षि कृत अर्थ का आधार पूर्णतः प्राचीन साहित्य में पदे-पदे उपलब्ध है। आवश्यकता विवेक चक्षु खोलकर देखने की है।

अल्लामा जी यदि आप पाणिनि जिसे ग्रीफिथ, राथ, मैक्समूलर, विल्सन आदि ही नहीं, आज भी पूरी दुनिया शब्द व्युत्पत्ति के लिए प्रमाण मानती है, को थोड़ा सा भी सरसरी नजर से देख लेते, तो न तो आप स्वयं भटकते और न ही महर्षि के अकीदतमन्दों को आंख बन्द करने वाले कहते।

वैदिक परम्परा जिसमें सांख्य-वेदान्त आदि दर्शन भी सम्मिलित हैं के अनुसार-सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व अभाव नहीं था। कार्यजगत् के कारणरूप परमाणु थे, उन परमाणुओं को ईश्वर ने अपनी व्यवस्था से धारण किया हुआ था। इसलिए वह पुरोहित है। अभाव से अर्थात् बिना किसी उपादान कारण के कार्य जगत् को बनाने की मान्यता (जैसे बिना मिट्टी के घडा, बिना स्वर्ण सोने के कुण्डल, बिना लकड़ी के लकड़ी की कुर्सी मेज आदि) किस कक्षा के स्तर की बात है? यह आप बेहतर जानते होंगे। **जिस विज्ञान की बात आप कर रहे हैं, क्या वह भी 'कुन्' कहने मात्र से सृष्टि/दुनिया का बन जाना मानता है?**

२. वैदिक दर्शन एवं परम्परा में तीन अनादि हैं-

क- प्रकृति- जगत् का उपादान कारण

ख- ईश्वर- प्रकृति के परमाणुओं से जगत् स्रष्टा

ग- जीव- ईश्वरीय व्यवस्था से अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप तथा वर्तमान में किए जाने वाले कर्मों के अनुसार जागतिक पदार्थों का भोक्ता तथा कर्म करने में स्वतन्त्र। कर्मों के फलभोग में परतन्त्र।

यही वैदिक सिद्धान्त है। महर्षि तथा उनके अनुयायिओं का यही अकीदा है। रही बात अणु-परमाणु को मन्त्रों पर आरोपित करने की- महर्षि से हजारों वर्ष पूर्व के रचे गए दर्शन इन शब्दों का इसी रूप में व्यवहार करते हैं। जैसे-

अ- ''अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक्पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम्'' - वैशेषिक दर्शन- ५.२.१३

आ- ''परमाणु परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः''

योग द. १.४०

यह अकीदा पतंजलि, कणाद सदृश ऋषियों का है। महर्षि दयानन्द और उनके अनुयायी तो अकीदतमन्द हैं।

३. सातवलेकर जी के पुर (नगर)+ हित (लाभकारी) को मिलाकर 'पुरोहित' बनाना क्या बिल्कुल ऐसा ही नहीं है कि कोई कहे- 'बिस्मिल्लाह' का पदच्छेद-बिस् (भिस्-कमलगट्टा)+मिल्ला (मिला-प्राप्त हो गया)+आह (क्या

कहने, मौज आ गई)– ऐसा व्यक्ति जिसे भिस–कमल–गट्टा बहुत दिन से नहीं मिला और मिलते ही खुशी में कहने लगा–मौज आ गई?

अल्लामा जी सच कहिए कि– 'बिस्मिल्लाह' का उक्त अर्थ करने की यह शैली कितनी सारगर्भित तथा औचित्यपूर्ण लग रही है? यह ध्यान रखिये कि 'पुर+हित' से 'पुरोहित' शब्द और सातवलेकर जी का अर्थ इसी शैली का है।

श्रीमन्। यह पुर–रामपुर, शाहजहांपुर का पुर नहीं है। नगर वाची 'पुर' तो 'पृ पालन पूरणयोः' से बनता है, जिसके रूप बनते हैं– पूः (एकवचन), पुरौ (द्विवचन), पुरः (बहुवचन)। संस्कृत पढ़ने वाला दसवीं का विद्यार्थी भी बता देगा कि 'पुर+हित' मिलकर पुरोहित नहीं बनता। ऐसी दूर की कौड़ी मत ढूंढिएगा। परिश्रम व्यर्थ जाएगा।

किरन कृष्णन्– कोई वेद के विद्वान् नहीं है और यदि आपकी दृष्टि में हैं, तो उनका कार्य दिखाईएगा? संस्कृत में उक्ति है– श्रावणेऽन्धीकृतस्य हरित एव दृशायते– अर्थात् सावन के अन्धे को सब हरा दिखाई देता है। बायस्ड, मैनुप्लेटर को सब बायस्ड व मैनुप्लेटर ही दिखाई देते हैं। बेईमान को ईमानदारी कहीं नजर आती है क्या? महर्षि दयानन्द अपने अनुयायिओं को स्पष्ट निर्देश करते हैं– ''सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।'' यह केवल कहने की बात नही है। महर्षि का जीवन चरित पढियेगा, आपको पदे–पदे बोध होगा कि **सत्य का ऐसा उपासक कभी सदियों में ही कोई होता है।**

रही बात आंख बन्द करने और गाली देने की–इतिहास साक्षी है, अल्लामा जी यह दोनों बातें भी आपके खाते में अधिक ही नहीं होंगी, बल्कि वहाँ तो इनका एकाधिकार दिखाई देता ही रहता है।

शास्त्र चर्चा विभिन्न मत–मतान्तरों के ग्रन्थों का आलोचन अच्छी बात है, बशर्ते उद्देश्य दोष–दर्शन छोड़ सत्य की जिज्ञासा हो। जिस प्रकार कुरआन समझने के लिए अरबी भाषा का ज्ञान जरूरी है। उसी प्रकार वेद को समझने के लिए व्याकरण तथा निरुक्तादि का ज्ञान भी अपरिहार्य है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत वेदभाष्य की अन्य भाष्यकारों कृत वेदभाष्य से तुलना करते समय शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ, निघण्टु–निरुक्त तथा व्याकरण के नियमों को दृष्टिगत रखना अपेक्षित है। जिस प्रकार कुरआन को समझने के लिए अरबी के सही ज्ञान के साथ आप उस समय की परिस्थितियों–हदीसों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, उसी प्रकार साधारण व्यक्ति (ऋषियों को छोड़कर) विशाल वैदिक वाङ्मय की जानकारी के अभाव में वेदार्थ नहीं कर सकता।

महर्षि कृत वेदभाष्य के आलोचक विद्वान् यह भूलते हैं कि महर्षि से पूर्व भी वेदमन्त्रों के अधिदैवत, अध्यात्म तथा अधियज्ञ परक व्याख्यान की परम्परा रही है। एक ही मन्त्र के एकाधिक अर्थ किए जाने का आधार यह शैली भेद है। यास्कीय निरुक्त में एक ही मन्त्र के दो प्रकार (अधिदैवत–अध्यात्म) के अर्थ उपलब्ध हैं। तद्यथा– ''**सप्त ऋषयः प्रतिहिता शरीरेः...देवौ**'' (यजु. ३४.५५) तथा– ''**तिर्यग् बिलश्चमस...बभूवुः**''– अथर्व. १०.८.९ ''**ऋचो अक्षरे परमे...समासते**'' ऋ. १.१६४.३९ मन्त्रों के अधिदैवत तथा अध्यात्मपरक– (द्र. निरुक्त १२.४) अर्थ उपलब्ध है। इसी प्रकार– ''**सोमं मन्यते...कश्चन**'' ऋ. १०.८५.३ के अधियज्ञ तथा अधिदैवत (द्र. निरुक्त ११.१) द्विविध अर्थ उपलब्ध है।

महर्षि द्वारा 'अग्निमीडे पुरोहितम्'– मन्त्र के

परमेश्वरपरक (अध्यात्म) तथा भौतिक अग्निपरक (अधिभूत) अर्थ करना पूर्णतः परम्परानुसारी है। यदि कोई परम्परा से अनभिज्ञ है, तो यह उसी का दोष है। यास्क के शब्दों में– **'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'** निरुक्त १.१६ से अधिक क्या कहा जा सकता है?

मन्त्रस्थ प्रथम पद 'अग्निम्' यदि केवल भूतल पर उपलब्ध 'अग्नि' संज्ञक पदार्थ (जो पाक क्रिया का आधार है।) का ही वाचक रहता, तब 'पुरोहितम्' पद का व्याख्यान विशेषण होने से तदनुरूप ही किया जाना चाहिए था। वेद में 'अग्नि' पद पार्थिव अग्नि के साथ ही मेघ अन्तर्वर्ति विद्युत् का भी वाचक है– द्र. निरुक्त ७.२३। यास्क ने (निरुक्त ७.१८ में) ऋ. १.१६४.४६ को उद्धृत करते हुए 'अग्निम्' पद को महान् आत्मा– परमेश्वर परक व्याख्यात किया है।

अतः महर्षिकृत अर्थ पूर्णतः परम्पराश्रित तथा युक्तिसंगत है।

सौ वर्षों तक कर्म करते हुए जीने की इच्छा कर

कन्हैयालाल आर्य

संसार वह कर्मक्षेत्र है जहाँ प्रतिक्षण देवासुर संग्राम चल रहा है। विजय उसकी होती है जो देवों की तरह पवित्र भावना से अपना कर्त्तव्य कर्म करता जाता है और आपत्ति में भी नहीं घबराता। वही व्यक्ति सौ वर्ष तक जीवित रहता है। यजुर्वेद के ४० वें अध्याय के दूसरे मन्त्र में वेद ने आज्ञा दी है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

(इह) इस संसार में (कर्माणि) सत्कर्मों को करता हुआ (शतं समाः) सौ वर्षों तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा कर (एवम्) इस प्रकार (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (कर्म न लिप्यते) कर्म लिप्त नहीं होता है (इतः) इससे (अन्यथा) दूसरा और कोई मार्ग (न) नहीं है। इस मन्त्र में वेद ने आज्ञा दी-

(१) कर्म करते हुए जीने की इच्छा कर।

(२) कर्म करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा कर।

(३) कर्म करते हुए अपने आपको इसमें लिप्त मत कर।

और मन्त्र के अन्त में यह भी कह दिया, ''इसके अत्तिरिक्त कोई और मार्ग नहीं है।''

प्रश्न होता है कि क्या हम कर्म नहीं कर रहे? कर्म की मीमांसा बड़ी गहन है। कृष्ण ने गीता में कर्म की मीमांसा करते हुए अर्जुन को कहा-

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।

(४/१७)

कर्म की गति बड़ी गहन है। कर्म तीन प्रकार के हैं। तीनों का स्वरूप जानना चाहिये। (१) कर्म (शुभ)- वे हैं जो वेदशास्त्र विहित हैं अर्थात् परोपकार के कार्य हैं। (२) विकर्म (अशुभ)- वे हैं जो शास्त्र विपरीत हैं जैसे चोरी करना, असत्य बोलना आदि (३) अकर्म (शुभाशुभ मिश्रित)- वे हैं जो कर्म की गणना में नहीं आते पर इनके बिना निर्वाह भी नहीं हो सकता- ये स्वार्थ के काम हैं जैसे खाना, पीना, सोना, चलना, फिरना, नौकरी करना आदि। हमारे ये 'कर्म' कई बार 'अकर्म' में, 'अकर्म' 'कर्म' में परिवर्तित हो जाते हैं जिनका वर्णन स्वामी देवव्रत जी ने 'वेद स्वाध्याय' के पृष्ठसंख्या ३३३-३३४ में किया है-

कर्म में अकर्म- जैसे सूर्य दिन-रात कर्म करता है, परन्तु ऐसा लगता है कि वह कुछ नहीं कर रहा। सन्त परोपकारी मनुष्यों का जीवन भी ऐसा ही होता है। वे सूर्य के समान अहर्निश कर्म करते हुए भी उसमें जल में कमल के पत्र की भाँति अलिप्त रहते हैं। जब यह स्वभाव बन जाये तब कर्म 'अकर्म' हो जाता है।

अकर्म में कर्म- किसी ने क्रोधित होकर पत्नी या बच्चों से बोलना बन्द कर दिया जिसके कारण पत्नी या किसी बालक ने जीवन-लीला समाप्त कर ली या पलायन कर गया तो वह अकर्म भी प्रचण्ड कर्म बन गया। ऐसे ही कोई पहरा देता हुआ सिपाही सन्ध्या के लिए बैठ गया और उस अवसर का लाभ उठाकर अराजक तत्त्वों ने लूटमार या हिंसा की तो उस सिपाही का वह कर्म 'अकर्म' हो जायेगा। अकर्म का अर्थ यहाँ अनुचित से है। ऐसे ही कोई विधर्मी शत्रु सेना के आगे गायों को खड़ी कर देता है और हम गोहत्या के भय से शस्त्र छोड़ देते हैं तो यह अनुचित है। उस समय उचित है कि न करने योग्य गोहत्या रूपी कर्म को करते हुए शत्रु का संहार करें। यह अकर्म में कर्म कहा जायेगा।

कई बार 'विकर्म' में भी 'कर्म' हो जाता है। महाभारत में एक कथा आती है- कोई राक्षस मनुष्यों का संहार करने के लिये वेश बदलकर जा रहा था। किसी भद्र पुरुष ने उसे हानिकारक पशु मान धनुष पर बाण चढ़ा कर मौत के घाट उतार दिया। इस विकर्म को पुण्य कर्म ही माना जायेगा। जैसे किसी अपराधी को फाँसी पर लटका दिया गया। उस एक को फाँसी देने से हजारों लोग सुख की नींद सोने लगें तो वह विकर्म भी सुकर्म ही माना जायेगा।

मनुष्य को प्रतिक्षण कोई न कोई काम अवश्य करना पड़ता है, वह बिना कर्म के निठल्ला नहीं बैठ सकता।

शारीरिक कर्म न हो तो मानसिक कर्म होगा। कृष्ण जी ने गीता में कहा है–

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।

(३/५)

(हि) निःसन्देह (कश्चित् जातु क्षणमपि) कोई भी मनुष्य किसी भी काल में, क्षणमात्र भी, (अकर्मकृत् न तिष्ठति) बिना कर्म किए नहीं रहता (हि) क्योंकि (सर्वः प्रकृतिजैः गुणैः) सारा मनुष्य समुदाय स्वाभाविक गुणों द्वारा (अवशः) परवश हुआ (कर्म कार्यते) कर्म करने के लिए बाध्य किया जाता है।

अर्जुन निष्कामता का अर्थ न समझने के कारण कर्म त्याग करने को ही जीवन का ध्येय मान लेता है। उसके इस भ्रम को दूर करने के लिये श्रीकृष्ण जी ने कहा, ''हे अर्जुन! कोई भी मनुष्य किसी भी अवस्था में क्षणमात्र भी कर्म बिना नहीं रह सकता, क्योंकि मनुष्य अपनी प्रकृति (स्वभाव) से पैदा होने वाले गुणों द्वारा विवश बना दिया जाता है और वे उससे कर्म कराया ही करते हैं।''

बहुत बार जीवन के संघर्ष से घबराकर मनुष्य सब कुछ त्यागकर पूर्णरूप से तटस्थ हो जाना चाहता है, ताकि उसे सारे दायित्वों से मुक्ति मिल जाये और उसे कर्त्तव्य के नाम पर कुछ न करना पड़े। गीता यहाँ स्मरण कराती है कि मनुष्य कर्म के क्षेत्र में चाहने पर भी नहीं भाग सकता। प्रकृति के अन्य सभी प्राणियों और पदार्थों की तरह मनुष्य का मन आदि भी सत्व, रज और तम इन तीनों गुणों से बना है और इन तीन गुणों से प्रभावित होकर मनुष्य प्रतिक्षण कुछ न कुछ करता रहता है।

वेद कहता है शुभ कर्म करो। अशुभ व मिश्रित कर्म मत करो अन्यथा बन्धन में पड़े रहोगे। शुभ कर्म भी साधन हैं, साध्य नहीं। शुभ कर्मों में भी यदि लिप्त हो जाओगे तो शुभ कर्मों का फल भोगने के लिये भी हमें जन्म लेना होगा और जन्म लेना ही तो बन्धन है, इसलिये शुभ कर्मों में भी लिप्त नहीं होना अर्थात् शुभ कर्मों के फल की भी इच्छा मत करना। हम कर्म करने के लिए स्वतन्त्र हैं, परन्तु फल पाने में हम परतन्त्र हैं। श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय के ४७ वें श्लोक में यही मुख्य सन्देश दिया है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

(ते कर्मणि हि अधिकारः) तेरा कर्म करने में ही अधिकार है (फलेषु कदाचन मा) उसके फलों में कभी नहीं (कर्मफलहेतुः) अमुक कर्म का अमुक फल मिले यह हेतु मन में रखकर काम करनेवाला (मा भूः) मत हो (ते अकर्मणि संगः मा अस्तु) तेरी कर्म न करने में प्रीति न हो।

गीता के कर्मयोग का यह सबसे मुख्य श्लोक है। यहाँ पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कर्मयोग के वास्तविक स्वरूप को बताते हुए कहा है, ''हे अर्जुन! तेरा अधिकार केवल कर्म करने में है, कर्म के फल में नहीं अर्थात् फल मिलना या न मिलना तेरे हाथ में नहीं है। अमुक कर्म का अमुक फल अवश्य मिले–यह हेतु, यह इच्छा मन में रखकर काम करनेवाला तू न बन, परन्तु तू अकर्मण्य भी मत बन।''

यहाँ गीता के कर्मयोग के सिद्धान्त को सूत्ररूप में निर्दिष्ट करते हुए उसके चार अंग बताये हैं–

(क) देह का अभिमान रखने वाले जीव का अधिकार कर्म में है। अतः उसे शास्त्रों में बताये गये कर्मों को सदैव करते रहना चाहिये।

(ख) कर्मों को निष्काम भाव से करना चाहिये, क्योंकि कर्मों के फल कर्त्ता के अधिकार में नहीं है। मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, पर कर्म का फल उसे कैसा और कितना मिलेगा, इस पर उसका कुछ अधिकार नहीं है।

(ग) कर्मों को उनके फलों की लालसा से रहित होकर ही करना चाहिये।

(घ) यदि कर्मों के फलों की कामना ही नहीं तो कर्म ही क्यों किया जाये– ऐसा सोचकर कर्म न करने में भी आग्रह नहीं होना चाहिये। कर्मों की सफलता और विफलता में एक–सा रहना कर्मयोग का मूल अधिकार है।

मनुष्य का ध्यान प्रायः कर्म करने की ओर कम, उसका फल पाने की ओर अधिक रहता है। परन्तु कर्म करना जहाँ हमारे हाथ में है, कर्मों का फल उन शक्तियों पर निर्भर है जिन पर हमारा कोई वश नहीं है। अपनी ओर से पूरी निष्ठा, कुशलता और परिश्रम के साथ कर्म करने के

पश्चात् यदि हमें वाञ्छित फल नहीं मिलता है तो हमें कर्म करना छोड़ नहीं देना चाहिये। हम पायेंगे कि कर्म करने का अपना एक आनन्द है जो इस बात पर निर्भर नहीं करता कि हमारे कर्म का फल हमें क्या मिलेगा? सदैव कर्म के फल को लेकर उद्विग्न रहनेवाला व्यक्ति कर्म करने के इस आनन्द से वंचित रहता है।

हमारे ऋषि मुनियों ने मनुष्य की १०० वर्ष की आयु मानकर उसे चार आश्रमों में विभाजित किया और प्रत्येक आश्रम के कर्त्तव्य-कर्मों का वेदानुसार विधान किया। ब्रह्मचर्य आश्रम में धर्म है कर्त्तव्य-कर्मों को करना, विद्या पढ़ना और शरीर, मन, बुद्धि का विकास करना। गृहस्थाश्रम में धर्मपूर्वक धन कमाना और मर्यादा में रहकर उसका उपभोग करना। वानप्रस्थाश्रम में तप करते हुए धर्म का अर्जन करना। संन्यासआश्रम में मोक्ष की प्राप्ति और सदुपदेश देना। आश्रम का अर्थ भी यही है कि उसमें सर्वात्मना कर्त्तव्य-कर्म किए जायें।

मन्त्र में कहा है 'सौ वर्ष जीने की इच्छा कर' से तात्पर्य केवल इच्छा ही मत कर अपितु इसके लिए पुरुषार्थ भी कर। सौ वर्ष तक जीने के लिये इन तीन बातों का पालन करना आवश्यक है-

(१) आहार- सात्त्विक आहार लेना चाहिये।

(२) निद्रा- आयु अनुसार उचित निद्रा लेनी चाहिये।

(३) ब्रह्मचर्य- शरीर, मन और वाणी से कभी ब्रह्मचर्यविहीन नहीं होना चाहिये। गृहस्थ में सन्तान तो उत्पन्न करे, परन्तु जीवन को वासना के कीचड़ में लिप्त न करें।

इस मन्त्र में १०० वर्ष जीने की कामना के साथ-साथ यह भी कहा है कि सदैव कर्म में लगे रहना चाहिये। कहते हैं- खाली मस्तिष्क शैतान का घर होता है, अतः सदैव व्यस्त रहें, मस्त रहें। इसे एक दृष्टान्त से समझते हैं- एक बार किसी धनी के पास एक मनुष्य पहुँचा और उससे नौकरी की माँग की। सेठ ने कहा, ''क्या वेतन लोगे?'' नौकरी के अभिलाषी ने कहा, ''मेरा वेतन यही है कि मुझे हर समय कार्य करने को मिलता रहे। यदि तुम कार्य नहीं दोगे तो मैं तुम्हें मार डालूँगा।'' धनी ने सोचा, ''यह तो बहुत अच्छा सेवक है। वेतन भी नहीं माँग रहा, सारे कार्य करने को भी उद्यत है।'' इस प्रकार सोचकर धनी व्यक्ति ने उसको नौकर रख लिया। नौकर की शर्त मान ली गई। नौकर बहुत शीघ्रकारी था। सेठ के मुँह से कार्य निकला नहीं कि नौकर उस कार्य को पूरा कर देता। कुछ ही दिनों में सेठ के सारे कार्य समाप्त हो गए। अब उसे चिन्ता हुई कि यह मुझे मार डालेगा। इस चिन्ता से सेठ व्याकुल रहने लगा। खान-पान नीरस हो गया। एक दिन उस सेठ के पास एक मित्र आया वह बहुत बुद्धिमान था। मित्र ने कहा, ''सेठ जी! इतनी धन सम्पत्ति होते हुए भी इतने दुर्बल क्यों होते जा रहे हो?'' सेठ ने सारी कथा कह सुनाई। उस मित्र ने कहा, ''सेठ जी! तुम इसे केवल अपने कार्यों में लगाते हो, अब पड़ौसियों के कार्यों में, मुहल्लेवालों के कार्यों में, नगरवासियों के कार्यों में, सारी मानवता के कार्यों को अपना समझकर कार्यों में लगाओ। ये असंख्य कार्य इससे नहीं निपटेंगे और तुम इसके हाथों से बचे रहोगे। यह ही अवस्था हमारे मन की है। जिस समय यह शुभ कर्मों से थोड़ा-सा अलग हुआ तो नाशकारी कामों में लग जायेगा। इसे तो विचाररूप काम करना ही है, अतः मन को सदैव शुभ कार्यों में लगाते रहो। ऐसा करने से मुक्ति मिलेगी।''

मन्त्र में आगे कहा है ''इस प्रकार मनुष्य में कर्म का लेप नहीं रहता।'' परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि कर्म करेंगे तो कर्म का लेप अवश्य होगा। उपनिषद्कार का कहना है कि जीवन का ऐसा भी मार्ग है कि हम कर्म भी करें और कर्म का लेप भी न हो। कर्म के लेप से ही तो सुख-दुःख होते हैं। वह मार्ग क्या है? वह मार्ग है कि हम कर्म तो करें, परन्तु निःसंगभाव से, निष्काम भाव से करें। परन्तु क्या निष्कामभाव सम्भव है? निष्कामभाव को सम्भव बनाने के लिये उपनिषद्कार कहते हैं कि तुम्हारा तो कुछ है ही नहीं- '**ईशावास्यमिदं सर्वम्**' (यजुर्वेद ४०/२)- सब उसी का है। जब सब उसी का है, तुम्हारा कुछ नहीं, तब लिप्त होना, सकामता कैसी? निष्काम भावना तभी आ सकती है जब रमण करने की भावना न रहे।

यह मार्ग दो भागों में विभक्त है (१) मनुष्य को निरन्तर कर्म करने का अभ्यास होना चाहिये (२) वे कर्म कर्त्ता को फँसाने वाले न हों।

पहले भाग पर दृष्टिपात करने से प्रकट होता है कि

कर्म सृष्टि का सार्वतन्त्रिक नियम है। जगत् में कोई वस्तु ऐसी दिखाई नहीं देती कि जो क्रियारहित हो। सूर्य प्रतिक्षण गति में रहता है, पृथ्वी गतिमय है, चन्द्रमा चलता है। यदि छोटी से छोटी वस्तु एक कण (Atom) को लें और देखें तो एक बड़ा चमत्कार दिखाई देता है। उस कण के भीतर एक केन्द्र है और उसके चारों ओर असंख्य विद्युतकण (Electrons) उसी प्रकार घूमते दिखाई देते हैं, जिस प्रकार अनेक ग्रह और उपग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड का एक-एक कण भी सूर्यमण्डल (Solar System) का संक्षिप्त रूप है। क्या यह कण जिसके भीतर इतना कार्य हो रहा है, ठहरा हुआ या निष्क्रिय है? विज्ञान का उत्तर है कि कदापि नहीं। जब कर्म का साम्राज्य जगद्व्यापी है, तो मनुष्य उससे किस प्रकार बच सकता है? इसलिए मनुष्य को भी कर्मनिष्ठ होना चाहिये।

इस मार्ग का दूसरा भाग यह है कि मनुष्य कर्म में लिप्त न हो। इस भाग को समझने के लिये आवश्यक है कि यह समझ लिया जाये कि कर्म दो प्रकार के हैं (१) सकाम और (२) निष्काम। सकाम कर्म पुनर्जन्म की ओर ले जाते हैं, निष्काम कर्म मोक्ष प्रदान करने वाले होते हैं। सांसारिक सुख को सामने रखकर जो कर्म किए जाते हैं उन्हें सकाम कर्म कहते हैं। अत: यदि बन्धन से मुक्त होना है तो मृत्यु पर विजय प्राप्त करने की बजाय जन्म ही न हो, उसके लिए हमें निष्काम कर्म करने होंगे। जब कर्मों को कर्त्तव्य समझकर किया जाये तो फल की इच्छा नहीं होती, सन्तोष बना रहता है। कर्मों का त्याग नहीं करना है। पूरे जीवनभर करते जाना है और पूरे जीवनभर शुभ कर्मों के फल की भी इच्छा नहीं करनी है, यह परम सन्तोष है। शान्ति तथा आनन्द प्रदान करनेवाला है। ऐसा कर्म बन्धन नहीं होता। जिस प्रकार कमल कीचड़ में रहता हुआ भी अपने आपको कीचड़ में लिप्त नहीं करता, उसी प्रकार हमें भी कर्मों में लिप्त नहीं होना है, तभी हम सभी कार्य ईश्वर-आज्ञा मानकर करेंगे तो हमें फल की इच्छा भी नहीं रहेगी। यदि हम फल की इच्छा को सामने रखेंगे तो इच्छा की पूर्ति होने पर हर्ष, सुख आदि प्राप्त होगा और इच्छा पूरी न होने पर शोक व अशान्ति उत्पन्न होगी।

मन्त्र में आगे कहा है ''कर्म करने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं है।'' इस पर जीव सोचने लगा कि इतना लम्बा जीवन जीकर क्या करूँगा। जीवन जितना लम्बा होगा उतने ही अधिक पाप होंगे। कर्म करना भी तो भय से रहित नहीं है। कर्म का फल भोगना पड़ेगा। कर्म का फल भोगने के लिये शरीर धारण करना पड़ेगा। इस प्रकार मानव पुन: पुन: जन्म-मरण के झंझट में फँसा रहेगा। ऐसा सोचकर जीव उदास हो जाता है। तभी तो कहा है कि कर्म तो कर परन्तु फल की इच्छा मत कर। जब हमारी इस प्रकार की सोच हो जायेगी तो हमें कर्म लिप्त न कर सकेंगे। जो लोग परोपकार के कार्य करते हैं, वे सदा सुखी रहते हैं। इसलिये परोपकार की भावना जो शुभ है, सदा मन में रखकर संसार के उपकार के लिये कटिबद्ध रहना चाहिये। जब तक प्राण हैं तब तक परोपकार के कार्यों से अलग नहीं होना चाहिये। मनुष्य जीवन बहुत ही मूल्यवान् है इसे व्यर्थ में व्यतीत नहीं करना चाहिये। जो लोग ईश्वर आज्ञा की उपेक्षा करते हैं वे व्यर्थ में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जो नि:स्वार्थ भाव से संसार के उपकार में लगे रहते हैं, उनके कर्म बन्धन का कारण नहीं बनते। अत: शुभ-अशुभ कर्मों पर विचार करके सौ वर्षों तक पुरुषार्थ करते हुए जीवन को व्यतीत करें। जीवन की सार्थकता इसी में है। यही इस मन्त्र का उद्देश्य है।

मन्त्री, परोपकारिणी सभा

उन्नति का कारण

जो मनुष्य पक्षपाती होता है। वह अपने असत्य को भी सत्य और दूसरे विरोधी मत वाले के सत्य को भी असत्य सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है, इसलिए वह सत्य मत को प्राप्त नहीं हो सकता।

सत्योपदेश के बिना अन्य कोई भी मनुष्य जाति की उन्नति का कारण नहीं है। सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

महर्षि दयानन्द सरस्वती

ग्रन्थरत्न अद्वैतवाद के लेखन की रोचक कहानी

राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

नगर आर्यसमाज सोनीपत की जन्मशताब्दी के उपलक्ष्य में वहाँ के आर्यबन्धु कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का प्रकाशन व प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। इसके लिये श्रीयुत पं. रामचन्द्र जी आर्य तथा उनके सब सहयोगी बधाई के पात्र हैं। 'अद्वैतवाद' का प्रकाशन तो अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य है। यह ग्रन्थ आर्यसमाज के दार्शनिक साहित्य में अपना एक विशेष महत्त्व रखता है। यह ग्रन्थ पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय जी की एक अनूठी व मौलिक देन है। इसके लेखन व प्रकाशन का इतिहास बड़ा गौरवपूर्ण तथा अनूठा है। इस इतिहास की सुरक्षा करने के लिये आदरणीय पं. रामचन्द्र जी ने इस विषय में लिखने की प्रेरणा दी है।

मैं कॉलेज में पढ़ता था। उपाध्याय जी ने 'रिफॉर्मर' उर्दू साप्ताहिक में इस दार्शनिक ग्रन्थ के जन्म का प्रेरणाप्रद इतिहास अपने लेख में दिया था। इसे पढ़कर मैं फड़क उठा। मुंशी प्रेमचन्द जी 'माधुरी' के सम्पादक थे। आपने अपने सहपाठी पं. गंगाप्रसाद जी से प्रार्थना की कि हमारे लिये भी एक लेखमाला आरम्भ कर दें। उपाध्याय जी ने 'अद्वैतवाद' पर एक लेखमाला आरम्भ कर दी। लोग सुरुचि से इसे पढ़ने लगे। लेखमाला की धूम मच गई। पत्रिका के स्वामी संचालक सब शांकर मत के माननेवाले मायावादी ब्राह्मण थे। वे पहले पं. गंगाप्रसाद जी को अपने समान ही ब्राह्मण समझते थे।

लेखमाला की लोकप्रियता से खलबली सी मच गई। कुछ मायावादी तड़प उठे कि शंकराचार्य के दर्शन की समीक्षा करनेवाला यह उपाध्याय कहाँ से आ गया। जाँच-पड़ताल करनेवाले आलोचकों ने पता कर लिया कि गंगाप्रसाद तो अयोध्यासिंह उपाध्याय जैसा उपाध्याय नहीं है। यह तो आर्यसमाजी उपाध्याय है। यह जन्म से ब्राह्मण नहीं है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी भी पहले उन्हें 'शुद्ध ब्राह्मण' समझते थे। वह भी शांकर मत की समीक्षा न सह सके। वैसे द्विवेदी जी 'आस्तिकवाद' के सृजन के कारण उपाध्याय जी की विद्वत्ता का गुणकीर्तन करते नहीं थकते थे।

अब माधुरी के संचालकों पर लेखमाला बन्द करने का दबाव डाला गया। संचालकों ने प्रेमचन्द जी से कहा कि इसे तुरन्त रोक दिया जाये। उन्हीं की प्रेरणा पर उपाध्याय जी ने इसे आरम्भ किया था। उन्होंने उपाध्याय जी को मिलकर सारी महानी सुना दी। वह विवश थे। क्या करते?

उपाध्याय जी ने इसमें अपना अपमान नहीं गौरव जाना। उन्होंने यह कहानी पहली बार कोई २६-२७ वर्ष पश्चात् 'रिफ़ॉर्मर' में सार्वजनिक की। आपने इसे ऋषि दयानन्द के वैदिक दर्शन की दिग्विजय मानकर लिखा कि लेखमाला रही तो अधूरी पर अपना काम कर गई।

मैंने रामचन्द्र जी से कहा था कि मैं बहुत संक्षेप से ही यह इतिहास लिख पाऊँगा, परन्तु क्या किया जावे, एक-एक कड़ी सुरक्षित करने योग्य है। उपाध्याय जी को अब न दिन को चैन और न रात को आराम। मिशन की अग्नि दिल में धधक रही थी। वह, दिन को रात को जब भी समय मिलता इस लेखमाला को पुस्तक का रूप देने में जुट गये। यह सन् १९२६-२७ की घटना है। 'अद्वैतवाद' लिखते समय ही प्रात:वेला में 'लीडर' दैनिक के एक सम्पादक (उनका शिष्य था) ने उन्हें पूज्य स्वामी श्रद्धानन्द जी के अमर बलिदान की सूचना दी थी। यह घटना २४ दिसम्बर १९२६ की है।

पुस्तक तैयार हो गई। धर्मवीर महाशय राजपाल जी ने आपसे कोई नया ग्रन्थ माँगा तो आपने 'अद्वैतवाद' प्रकाशनार्थ दे दिया। महाशय राजपाल जी जैसा परमोत्साही, ऋषि का सच्चा पक्का भक्त भी आर्यलोगों की इतने गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थ में अरुचि का विचार करके इसके प्रकाशन का साहस न कर सका। पाण्डुलिपि लौटा दी गई।

अब उपाध्याय जी के विद्वान् साहित्यकार सुपुत्र पं. विश्वप्रकाश जी ने इसे प्रकाशित करने का जोखिम उठाया। पूज्य स्वामी आत्मानन्द जी महाराज (पं. मुक्तिराम उपाध्याय) की कोटि के दार्शनिक ने श्रद्धेय पण्डित जी को पत्र में लिखा, ''**आप बड़ा गहरा गोता लगाते हैं।**'' यह वाक्य पढ़कर पण्डित जी झूम उठे। इस पत्र का उल्लेख भी मैंने साहित्य पिता के लेख में ही पढ़ा था। पुस्तक की बिक्री तो नाममात्र ही हुई। भेंटस्वरूप विद्वानों को बहुत प्रतियाँ गईं।

उपाध्याय जी ने हर्षित मन से लिखा था-

'कदरे ज़र जरकश शनासद कदरे जोहर जोहरी'

इस फ़ारसी सूक्ति का अभिप्राय है कि रत्न का मूल्य तो पारखी ही जानता है। आचार्य मुक्तिराम को उपाध्याय जी का ग्रन्थ भा गया। उन्होंने इसमें अपने श्रम व पुरुषार्थ का मूल्य पा लिया।

अब इस ग्रन्थ के इतिहास की एक कड़ी और शेष रह गई जो उपाध्याय जी ने तो सार्वजनिक न की, परन्तु मैंने स्वामी सत्यप्रकाश जी का साक्षात्कार लेते हुए बहुत भक्तिभाव से दबाव बनाकर उसका पता कर लिया। यह पूरी कहानी पहली बार अब बता रहा हूँ। उपाध्याय जी की लेखमाला के गहरे व व्यापक प्रभाव का निराकरण करने के लिये माधुरी के मायावादी ब्राह्मणों ने एक लेखमाला निकाली। लेखक भी आर्यसमाजी क्षेत्र से खोजा। यह थे श्री बुद्धदेवशरण जी अग्रवाल। वह विद्वान् थे, परन्तु सदा गोलमोल ही लिखा करते थे।

हमारे ही एक लेखक जी ने मेरे साहित्य व लेखों में यह कहानी पढ़कर एक नई कड़ी इसमें जोड़ दी। आपने यह लिख मारा कि इसी कारण प्रबन्धकों ने मुंशी प्रेमचन्द जी को 'माधुरी' से हटा दिया। यह बिना पंखों के कल्पना की उड़ान है। मुंशी जी जब माधुरी को छोड़ गये तब भी माधुरी से उनका सम्बन्ध बना रहा। वह यदा-कदा माधुरी के लिये लिखते ही रहते थे। उनकी तो क्या कहें, एक बार 'माधुरी' के ब्राह्मण देवताओं को ईश्वर की सत्ता के निषेध करनेवाले लेख का सटीक उत्तर देना था। काशी, वृन्दावन, हरिद्वार से कोई 'शंकराचार्य' न मिला। वह लेख 'माधुरी' में छाप तो बैठे। अब उस घातक लेख का उत्तर कौन दे?

फिर शांकरमतवादी ब्राह्मणों ने वेदवादी ब्राह्मण पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय की शरण ली। हमारे पूज्य साहित्य पिता ने ऐसा सुन्दर मौलिक उत्तर दिया कि ईश्वर को माननेवाले सभी आस्तिक लोग उसे पढ़कर झूम उठे। मुंशी प्रेमचन्द जी उस काल की कहानियाँ तथा उपाध्याय जी का उक्त लेख सब मैंने देख-पढ़े हैं। अत: मुंशी प्रेमचन्द जी को निकालने की कहानी कोरी कल्पना है।

आर्यो! 'अद्वैतवाद' ग्रन्थरत्न परीक्षा की सूली पर चढ़कर बलिदान देने का गौरव प्राप्त कर चुका है। अद्वैतवाद हमारा बलिदानी योद्धा है। यह याद रखिये।

---

३ जुलाई (१९०२) पुण्यतिथि पर विशेष

माता लक्ष्मी देवी [धर्मपत्नी पं. लेखराम] का प्रेरक जीवन।

रामनिवास 'गुणग्राहक',

एक-दो वर्ष पहले जब मैं स्वामी श्रद्धानन्द जी की अनूठी आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' पढ़ रहा था तो मुझे लगा कि माता शिवदेवी जी का प्रेरक जीवनवृत्त भी आर्यों के सामने आना चाहिये तो मैंने 'कल्याण की देवी शिवदेवी' नाम से एक लेख 'परोपकारी' के लिये भेजा और वह छपा। अब २१ सितम्बर २०२० को श्रीगंगानगर छोड़कर मैं पूर्णरूपेण गाँव आकर रहने लगा। पुत्र के विवाह से निवृत्त होकर कोरोना काल में लिखना कम, पढ़ना अधिक रहा। नियमित रूप से वेद-स्वाध्याय के अनन्तर कुछ अन्य उपयोगी ग्रन्थ भी जब-तब देख लेता हूँ। अभी कुछ दिन पूर्व अमर बलिदानी पं. लेखराम जी के 'कुल्लियात आर्य मुसाफिर' (भाग-१) का अध्ययन करने का मन बनाया। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही अमर बलिदानी स्वामी श्रद्धानन्द जी की मर्मस्पर्शी लेखनी से धर्मवीर पं. लेखराम जी की धर्मपत्नी माता लक्ष्मी देवी का संक्षिप्त जीवनवृत्त पढ़ने को मिला। जब मैंने उसे पढ़ा तो एक भारतीय नारी के तप-त्याग और धर्मभाव को देखकर हृदय विह्वल हो उठा। सच में हमारी देवियों ने अपने कर्त्तव्यों के निर्वाह में अनूठे कीर्तिमान बनाये हैं।

विवाह के समय लक्ष्मी जी की आयु शास्त्रानुकूल १६ वर्ष थी। आप मरी के निकटवर्ती किसी पहाड़ी गाँव में जन्म लेकर धर्मवीर पं. लेखराम की जीवनसंगिनी बनीं। आपका स्वभाव अत्यन्त संकोची था। किसी से खुलकर बात करना, विशेषरूप से अपनी व्यथा-वेदना व्यक्त करना आपके स्वभाव में नहीं था। विवाह के दो-तीन वर्ष बाद आप अपने पतिदेव के साथ जालन्धर आ गईं। हमारी उस पीढ़ी के आर्य, सिद्धान्तवादी होने के साथ सिद्धान्तजीवी भी थे। लक्ष्मी जी अशिक्षित थीं, धर्मधनी पं. लेखराम ने

उन्हें शिक्षित करने का संकल्प लिया और उन्हें पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। पं. लेखराम की इच्छा थी कि जैसे वह वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करके मानवता की सेवा कर रहे हैं, वैसे ही उनकी सहधर्मिणी लक्ष्मी देवी जी भी अपना जीवन धर्म-प्रचार में लगाएँ। लेखराम जी ने मुंशीराम जी से पूछा कि संकोची लक्ष्मी देवी जी को इसके लिए कैसे तैयार करें। मुंशीराम जी ने कहा कि आप इन्हें प्रचार-कार्य में साथ ले जाया करें। लेखराम जी उन्हें मथुरा व अम्बाला आदि के उत्सवों में साथ ले गए। जालन्धर के स्त्री आर्यसमाज के सत्सङ्गों में तो लक्ष्मी जी नियमित जाती ही थीं। घर पर पढ़ाई और सत्संग-उत्सवों में भाग लेने के कारण लक्ष्मी जी का जीवन निखरने लगा।

जालन्धर में ही उन्हें एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई और थोड़े ही दिन बाद उन्हें पुत्र-वियोग भी सहना पड़ा। स्वामी श्रद्धानन्द जी के अनुसार लक्ष्मी देवी भविष्य में जो समाज-सेवा के कार्य करना चाहती थीं, उसके लिये स्वयं को तैयार करने में वह इतनी समर्पित रहीं कि पुत्र के लालन-पालन में उचित ध्यान न दे सकीं। इससे लक्ष्मी देवी की धर्मधुन का पता चलता है कि सच में वह पं. लेखराम की सहधर्मिणी ही थीं। पं. लेखराम जी उनकी शिक्षा का कितना ध्यान रखते थे और वह उन्हें कितना शिक्षित करना चाहते थे इसका पता उनकी डायरियों से लगता है। वह अपने भावी जीवन की योजना बनाते समय दैनिक कार्यों का बँटवारा करते हुए लिखते हैं- ''अग्निहोत्र को लक्ष्मी देवी जी करा लिया करें।'' अन्यत्र वह लिखते हैं- ''११ बजे से २ बजे तक भोजन, आराम, घर के आवश्यक कामकाज और लक्ष्मी देवी को पढ़ाया जाए।'' आर्यजगत् की इन दोनों महान् विभूतियों को यह गौरव प्राप्त है कि इन्होंने अपनी पत्नियों को पढ़ाकर सुशिक्षित किया। पं. लेखराम जी और स्वामी श्रद्धानन्द जी दोनों ने अपनी देवियों के लिये पति के साथ गुरु का गौरवपूर्ण दायित्व भी निभाया।

लक्ष्मी देवी जी के जीवन में पं. लेखराम जी की क्रूर हत्या के बाद मानो दु:खों का पहाड़ ही टूट पड़ा। वह अभी पुत्र वियोग के दु:ख को भुला भी न सकीं कि एक क्रूर हत्यारे ने उनका सब कुछ उजाड़ दिया। हत्यारे को पकड़ने का प्रयास करते हुए लक्ष्मी देवी के हाथ में भी छुरे का घाव लगा। इस आघात ने लक्ष्मी देवी जी के हृदय को अन्दर से खोखला कर दिया। इसके बाद माता लक्ष्मी देवी अपनी सासु माँ के साथ रावलपिण्डी जाकर रहने लगीं। १७-१८ दिस. १८९९ को रावलपिण्डी आर्यसमाज का उत्सव था। इस अवसर पर पं. लेखराम जी के बलिदान की ताजा अनुभूतियों को लेकर आर्यजन बड़े संवेदनशील थे। इन्हीं संवेदनाओं के चलते पं. लेखराम के बलिदान को लेकर बहुत मार्मिक गीत लिखे गए। रावलपिण्डी आर्यसमाज के अवसर पर आये भजनोपदेशकों ने पं. लेखराम पर लिखे कुछ मार्मिक गीत माता लक्ष्मी जी ने सुने तो उनका हृदय इतना द्रवित हो गया कि वे अचेत हो गईं। इसके बाद तो कई अवसरों पर उन्हें मूर्च्छित होते हुए देखा गया। जब भी वह पं. लेखराम विषयक कोई भावुक गीत या ओजपूर्ण प्रवचन सुनतीं, भावविह्वल होकर मूर्च्छित हो जातीं। सन् १९०१ में जालन्धर आर्यसमाज के वार्षिक उत्सव पर मुंशीराम जी ने उन्हें इस स्थिति में पहली बार देखा तो उन्होंने माता लक्ष्मी की उपस्थिति में पं. लेखराम विषयक गीत-प्रवचन नहीं होने दिये। आर्यसमाज रावलपिण्डी के अवसर पर जब उन्होंने पं. लेखराम विषयक व्याख्यान सुना तो अपने कानों से सोने की बालियाँ निकालकर वेद-प्रचार के लिये दान में दे दीं।

यहाँ हम माता लक्ष्मी के हृदय का बड़प्पन दिखाना आवश्यक समझते हैं। लक्ष्मी जी की इस उदारता से उनकी सासु माँ और परिवारवाले इतने अप्रसन्न हुए कि लक्ष्मी जी के लिये परिवार के साथ मिलकर रहना तक सम्भव न रहा। दोनों पृथक् रहने लगीं तो पं. लेखराम के बलिदान के बाद उनके निर्वाह के लिये आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब जो सहयोग राशि दे रही थी, उसे दोनों में बाँटने की स्थिति आ गई। सभा ने यह काम मुंशीराम जी को दिया। मुंशीराम जी लिखते हैं कि हमारा विचार था कि लक्ष्मी देवी आठ रु. अपने लिए व पाँच रु. माता जी के लिये देने की व्यवस्था देंगी, लेकिन हम यह देखकर दंग रह गए कि लक्ष्मी जी ने स्वेच्छा से माता जी को दस रु. देने की बात कही। उनकी यह महानता देख सभी उनके प्रति श्रद्धा और सम्मान से भर उठे।

इसके बाद लक्ष्मी देवी का अधिकांश समय मुंशीराम जी के साथ जालन्धर में ही व्यतीत हुआ। मुंशीराम जी इन दिनों गुरुकुल के लिये दानराशि एकत्र करने में अधिक व्यस्त रहे तो लक्ष्मी जी कुछ समय लाला नगीनामल जी के मकान में रहकर कन्या महाविद्यालय में पढ़ने लगीं। उनका स्वास्थ्य साथ नहीं देता था, प्राय: पेट में गड़बड़ रहती थी। यह सब सहते हुए उन्होंने पढ़ाई नहीं छोड़ी। उनका उपचार प्रसिद्ध डॉक्टर गंगाराम जी से कराया गया

तो उन्हें कुछ आराम मिला। गुरुकुल के उद्घाटन समारोह में लक्ष्मी जी सम्मिलित हुईं और उन्होंने एक छात्रवृत्ति देने के लिये गुरुकुल को दो सहस्र रु. देने का संकल्प व्यक्त किया। मुंशीराम जी व पं. रामभजदत्त जी ने उनसे पुनर्विचार का आग्रह किया तो बोलीं– ''भ्राता जी! जीवन का भरोसा नहीं, न जाने प्राण कब निकल जाएँ। यदि संसार के कहने का विचार किया जाएगा, तब तो सम्भवत: कोई भी शुभ कार्य न हो सकेगा।''

जब वह गुरुकुल के उद्घाटन समारोह से लौटीं तो जालन्धर में प्लेग का प्रकोप हो गया। वह वहाँ से लाहौर आ गईं और लाहौर से अपने परिवार के पास रावलपिण्डी। यहाँ आने पर परिवार की ओर से दो सहस्र रु. के दान को लेकर उनके साथ बहुत दुर्व्यवहार किया गया। परिवार से प्राप्त इस दुर्व्यवहार और कटुवचनों के कारण लक्ष्मी जी का रोग बढ़ गया। उन्हें दस्त लगने लगे, ज्वर भी हो गया तो उन्होंने लाला सोमनाथ जी को लिखा यदि उनकी प्राणरक्षा करनी है तो किसी को भेजकर उन्हें जालन्धर बुला लिया जाए। लक्ष्मी देवी के जालन्धर आने पर मुंशीराम जी जब उनसे मिले तो वह बहुत दुर्बल हो चुकी थीं। डॉ. गंगाराम जी ने उनका परीक्षण करके राजयक्ष्मा होने की बात की तो सिविल सर्जन डॉ. स्मिथ ने परीक्षण करके जिगर का रोग बताया। यह उनके जीवन की सन्ध्या बेला थी, उन्होंने कुछ सज्जनों के सामने बाबू अमरसिंह वकील को अपनी वसीयत भी लिखा दी। वसीयत में २०००रुपये गुरुकुल को, आभूषण और चार सौ रु. अपनी सासु माँ को तथा कुछ रेशमी कपड़े और चालीस रु. के करंसी नोट तथा आठ रुपये नकद एक अनाथ बालिका को भेंट कर दिये, जिसका विवाह होने वाला था। शेष सब रुपया जो लगभग ६००रुपये था, वह पं. लेखराम स्मारक निधि के लिये भेंट कर दिया।

दूसरे दिन से ही उनकी वाणी बन्द हो गई और ३ जुलाई १९०२ को वो हम सबसे सदा के लिये विदा हो गईं। उनकी विदाई पर स्वामी श्रद्धानन्द बड़े भावुक होकर लिखते हैं– ''देवी! तुम्हारे शुभ संकल्प ऐसे तो न थे कि पूरे ही न होते, परन्तु इस अभागे देश के भाग्य ऐसे न थे कि तुम्हारे सहयोग से इसका कल्याण होता।''

भरतपुर, राज.।

आत्मकथ्य

डॉ. रामवीर

अबुधोऽपि बुधायते।
अनाराध्य गुरुं सम्यक्
गुरुः संज्ञायते स्वयम्।।

मैं विचारकों और प्रचारकों में ही पला बढ़ा,
लगता है जैसे औरों ने ही है मुझे गढ़ा।
घर में पढ़ने का माहौल था, होता रहता था विचार,
क्या बच्चे, क्या बड़े, सभी को था स्वाध्याय से प्यार।
शौक नहीं था पिता का कोई, बस पढ़ने से प्यार,
खर्च पुस्तकों पर करने में थे, अत्यन्त उदार।
ऐसे वातावरण में जैसे बनते हैं संस्कार,
स्वाभाविक है वैसा बनने को मैं हुआ लाचार।
मित्र मुझे कहते हैं अच्छा, कुछ कहते हैं बुरा,
कोई कुछ भी कहे बता दूँ, हूँ मैं कतई खरा।
अपनी बात कहने में किसी से मैं न कभी डरा,
अन्तरात्मा ने जो माना वह ही सदा करा।
मैं मैं हूँ, मैं नहीं किसी की कॉपी डुप्लिकेट,
मित्रों की इच्छा है वे जो चाहे लगाएँ रेट।
आत्मकथ्य लिखने में उपेक्षित न हो जाएँ तथ्य,
कवि का काम है केवल बातें लिखना याथातथ्य।

फरीदाबाद, हरियाणा।

जैसे पवन सब को सुख देता हुआ सब के रहने का स्थान हो रहा है वैसे ही विद्वान् को होना चाहिये।

–महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ५.४१

[illegible]

पुस्तक का नाम	वास्तविक मूल्य रुपये	छूट के साथ मूल्य रुपये
अष्टाध्यायी भाष्य (तीनों भाग)	५००	३५०
महर्षि दयानन्द सरस्वती का पत्र-व्यवहार (दोनों भाग)	८००	५००
कुल्लियाते आर्यमुसाफ़िर (दोनों भाग)	९५०	६००
डॉ. धर्मवीर का सम्पादकीय संकलन (तीन भाग)	५००	२५०
पण्डित आत्माराम अमृतसरी	१००	७०
महर्षि दयानन्द के शास्त्रार्थ	१५०	१००
वेद पथ के पथिक	२००	१००
महर्षि दयानन्द के हस्तलिखित-पत्र	२००	१००
स्तुतामया वरदा वेदमाता	१००	७०

यजुर्वेद भाष्य (महर्षि दयानन्द सरस्वती) पृष्ठ संख्या- २१९७, चारों भागों का मूल्य = १३००/-
डाक-व्यय सहित विशेष छूट पर उपलब्ध मूल्य = १०००/-

पुस्तकों हेतु सम्पर्क करें:- दूरभाष - 0145-2460120

वैदिक पुस्तकालय, अजमेर से क्रय की जाने वाली पुस्तकों की राशि ऑनलाइन जमा कराने हेतु

खाताधारक का नाम - **वैदिक पुस्तकालय, अजमेर।**

बैंक का नाम - **पंजाब नेशनल बैंक, कचहरी रोड, अजमेर।**

बैंक बचत खाता **(Savings)** संख्या - **0008000100067176**

IFSC - PUNB0000800

लेखकों से निवेदन

- लेखक कृपया अपने मौलिक व अप्रकाशित लेख ही भेजें।
- लेखक अपना पूरा पता व चल-दूरभाष संख्या लेख के साथ अवश्य लिखें।
- परोपकारिणी सभा द्वारा रचनाओं के लिए किसी प्रकार का भुगतान नहीं किया जाता है।
- अपनी रचना की एक प्रति कृपया अपने पास रखकर भेजें, क्योंकि अस्वीकृत रचनायें डाक द्वारा लौटायी नहीं जाती हैं।
- रचना के प्रकाशन में छः माह या अधिक समय भी लग सकता है, अतः कृपया तब तक रचना को अन्यत्र न भेजें।
- स्वीकृत रचना परोपकारी के किसी आगामी अङ्क में देखी जा सकती है।

-सम्पादक

जो विद्या की वृद्धि के लिए पठन-पाठन रूप यज्ञ कर्म्म करने वाला मनुष्य है वह अपने यज्ञ के अनुष्ठान से सब की पुष्टि तथा संतोष करने वाला होता है इससे ऐसा प्रयत्न सब मनुष्यों को करना उचित है।

-महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ७.२७

संस्था की ओर से....

क्या आप प्रतिदिन अतिथि यज्ञ नहीं कर पाते?
तो आइये, अतिथि यज्ञ के होता बनिये

वैदिक नित्यकर्मों में अतिथि यज्ञ प्रतिदिन करना अनिवार्य है, किन्तु आपको प्रतिदिन अतिथि मिलना संभव नहीं, फिर अतिथि यज्ञ कैसे किया जाय? इसका उपाय है, कुछ राशि प्रतिदिन अतिथि यज्ञ के नाम से निकाल ली जाये और उसको एकत्र कर अतिथि सत्कार में गुरुकुल में भोजन आदि के सहयोग में दे दी जाय।

यह अल्प राशि आप दैनिक संचय घट में जमा भी कर सकते हैं, वर्ष में लोग अरबों रुपए आग में पटाखे जलाकर व्यय करते हैं, असावधानी से बिजली जलती छोड़ इसे गंवा देते हैं आदि ऐसी छोटी-छोटी असावधानियों को रोक कर हम उसकी बचत राशि इस पावन कृत्य हेतु सभा को वर्ष में आसानी से दे सकते हैं।

सभा के धार्मिक क्रियाकलापों एवं आवासीय स्थल ऋषि उद्यान में उपर्युक्त पावन क्रियाकलाप लम्बे समय तक अबाध चलते रहें, इसके लिए सभा की योजना है कि प्रतिदिन प्रतिवर्ष ५ हजार एक सौ रु. की राशि प्रदान करने वाले उदार यशस्वी दानदाताओं का नाम अतिथि यज्ञ के स्थायी सदस्यों में अंकित किया जाता है ऐसे सज्जनों के नाम का परोपकारी में प्रकाशित भी किये जाते हैं।

यदि अपने सामर्थ्य के अनुसार राशि को न्यूनाधिक करना चाहें तो आपकी स्वतन्त्रता है अधिक से अधिक लोग परोपकारिणी सभा से जुड़ सकें, आप ऐसा करके ऋषि दयानन्द के कार्यों को आगे बढ़ाने में सहायक होंगे इसलिए ऐसी राशि निश्चित की है। आप से प्रार्थना है अपना नाम पता और संकल्प लिखकर अवगत करायें और अतिथि यज्ञ के होता बनें। अपनी राशि प्रतिमाह अथवा सुविधानुसार मनीआर्डर/डीडी/चैक द्वारा अथवा स्वयं उपस्थित होकर कार्यालय में जमा करा सकते हैं। आपका दान ८०जी (आयकर की धारा) के अंतर्गत कर मुक्त होगा।

अनेक 'अतिथि यज्ञ के होता' सदस्यों का आग्रह है, निश्चित तिथि जन्मदिन, विवाह वर्षगांठ या विशेष अवसर पर वे अपनी ओर से संस्था में भोजन कराना चाहते हैं। ऐसे महानुभावों से निवेदन है कि वे अतिथि यज्ञ के होता के रूप में एक दिन के भोजन व्यय की राशि लगभग पाँच हजार एक सौ रुपये भेजते हुए इच्छित दिन का विवरण सूचित करेंगे तो उन्हें उनके जन्मदिवस आदि पर परोपकारिणी सभा की ओर से दूरभाष द्वारा आशीर्वाद प्रदान किया जायेगा। यदि उस शुभ अवसर पर वे स्वयं उपस्थित होकर यजमान बनें तो यह सर्वोत्तम होगा।

अतिथि-यज्ञ के होताओं से अनुरोध

अतिथि-यज्ञ के होताओं से उनकी वैवाहिक वर्षगाँठ अथवा जन्मदिन व विभिन्न अवसरों पर ५१०० रु. प्रतिवर्ष सभा को प्राप्त होते रहते हैं। जो महानुभाव संकल्प के साथ इस पुनीत कार्य से जुड़े हुए हैं, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे अपनी राशि भेजते समय **जन्मतिथि/वैवाहिक वर्षगाँठ आदि व दूरभाष संख्या** सूचित करना न भूलें। साथ ही यह भी अवश्य सूचित करा देवें कि पहले से भिजवा रहे हैं अथवा नया शुरू किया है। आप अपनी राशि सभा के बैंक खाते में नकद अथवा चैक द्वारा जमा करा सकते हैं।

परोपकारिणी सभा की गतिविधियाँ

परोपकारिणी सभा महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित उनकी उत्तराधिकारिणी सभा है और केवल नाम से ही नहीं, बल्कि अपने कार्यों से भी वह ऋषि के उत्तराधिकार के दायित्व को पूर्णतया निभा रही है। महर्षि दयानन्द सरस्वती

ने इस सभा की स्थापना के समय तीन उद्देश्य रखे थे।

१. वेदादि सत्यशास्त्रों का प्रकाशन २. विद्वान् उपदेशक तैयार करके देश-विदेश में वैदिक धर्म का प्रचार एवं ३. आर्यावर्त्तीय दीन-दरिद्रों की सेवा।

इन सभी कार्यों को सभा अपने विभिन्न प्रकल्पों के माध्यम से पूरा करने में सर्वसामर्थ्य से लगी हुई है। यद्यपि सभा के पास आर्थिक आय का कोई स्थाई माध्यम नहीं है, पुनरपि ऋषिभक्तों एवं आर्यजनों के सहयोग और विश्वास पर ही सभा ने बड़े-बड़े कार्यों को प्रारम्भ किया और निरन्तर कर भी रही है। आचार्य डॉ. धर्मवीर जी, जो कि वर्तमान में परोपकारिणी सभा के प्रधान एवं मूल स्तम्भ थे, उनका कहना था कि **''कार्य यदि अच्छा है तो उसे प्रारम्भ कर देना चाहिये, सहयोग तो स्वयं ही मिल जाता है।''** यही शैली अपनाकर आज भी वैदिक विचार के प्रचार का कार्य निरन्तर जारी है। डॉ. धर्मवीर जी के जाने से सभा को बड़ा आघात अवश्य लगा है, परन्तु आर्यों का स्नेह, भरोसा उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्यों को रुकने नहीं देगा-ऐसा सभा को पूर्ण विश्वास है।

परोपकारिणी सभा आज अनेक कार्यों, माध्यमों से इस वेद प्रचार यज्ञ में लगी है, जिसकी सूची यहाँ दी जा रही है-

भव्य ऋषि उद्यान आश्रम, अतिथि यज्ञ, भोजनशाला, गौशाला, वानप्रस्थ एवं संन्यासाश्रम, गुरुकुल, परोपकारी पत्रिका, प्रकाशन, योग साधना एवं चरित्र निर्माण शिविर, सत्यार्थ प्रकाश व ऋषि जीवन चरित्र का नि:शुल्क वितरण, पाण्डुलिपियों का डिजिटलाइजेशन, पुस्तकालय, औषधालय, देश-देशान्तरों में वेद-प्रचार, आयुर्वेदिक औषधालय।

गुरुकुल के लिये प्रवेश-सूचना

परोपकारिणी सभा, अजमेर द्वारा संचालित महर्षि दयानन्द आर्ष गुरुकुल, ऋषि उद्यान-अजमेर में वैदिक धर्म एवं आर्यसमाज के उपदेशक तैयार करने हेतु उपदेशक कक्षा में प्रवेश प्रारम्भ हैं।

प्रवेशार्थी की न्यूनतम आयु १४ वर्ष तथा कक्षा आठ या उससे अधिक उत्तीर्ण हो। आर्ष-पद्धति से संस्कृत व्याकरण, दर्शन, उपनिषद्, वक्तृत्व कला तथा महर्षि निर्दिष्ट पाठ्यक्रम के अध्यापन की व्यवस्था है।

गुरुकुल में अध्यापन, भोजन एवं आवास **नि:शुल्क** है।

प्रवेश के इच्छुक अभ्यर्थी सम्पर्क करें-

आचार्य, आर्ष गुरुकुल, ऋषि उद्यान, पुष्कर रोड, अजमेर।

दूरभाष- ०८८२४१४७०७४, ०१४५-२४६०१६४, ०१४५-२६२१२७०

परोपकारिणी सभा के प्रकल्पों में सहयोग करने हेतु

खाताधारक का नाम - परोपकारिणी सभा, अजमेर (PAROPKARINI SABHA AJMER)

१. बैंक का नाम-**भारतीय स्टेट बैंक, डिग्गी बाजार, अजमेर।**

बैंक बचत खाता **(Savings)** संख्या-**10158172715**

IFSC-SBIN0007959

२. बैंक का नाम-**आई.डी.बी.आई**, पावर हाउस के सामने, जयपुर रोड, अजमेर।

बैंक बचत खाता **(Savings)** संख्या-**091104000057530**

IFSC-IBKL0000091 email : psabhaa@gmail.com

दानदाताओं की सूची

अतिथि यज्ञ के होता

(०१ से १५ जून २०२१ तक)

१. श्री महावीर प्रसाद यादव, जयपुर . डॉ. वेदप्रकाश विद्यार्थी, अजमेर ३. श्री इन्द्रजित् देव, यमुनानगर ४. श्री जे.एस. सामंत, हलद्वानी ५. श्रीमती मंदिरा विक्रान्त गुप्ता, फरीदाबाद ६. स्वामी आशुतोष परिव्राजक, अजमेर ७. श्री पिपरी नारायण, हैद्राबाद ८. श्री मोहित मेहता, गुरुग्राम ९. श्री माणकचन्द जैन, छोटी खाटु १०. मास्टर ईश्वरसिंह, रोहतक।

गोभक्तों से निवेदन

ऋषि-उद्यान में परमार्थ हेतु गोशाला संचालित है। गोशाला की गौवों के दूध का वितरण सभी गुरुकुलवासियों, संन्यासियों एवं आगन्तुक अतिथियों में नि:शुल्क किया जाता है। आप सभी गो-भक्तों एवं उदारमना दानदाताओं से सभा का निवेदन है कि गौवों को उत्तम चारा मिले, इसके लिए जो भी सज्जन चारा दान देना चाहें उनका स्वागत है। यदि आप दूरस्थ प्रदेश के हैं तो कृपया चारे हेतु अनुमानित राशि सभा को ड्राफ्ट/चैक/नगद भेज सकते हैं। यशस्वी दानदाताओं के नाम परोपकारी पत्रिका में प्रकाशित किए जाएँगे। आपका दान गौवों के संवर्धन में सहायक होगा।

ऋषि-उद्यान में संचालित गोशाला के दानदाता

(०१ से १५ जून २०२१ तक)

१. श्री ऋषभ गुप्ता, अम्बाला कैण्ट २. श्री संजय गुप्ता, अमेरिका ३. श्री दुर्गाप्रसाद श्रीवास्तव, लखनऊ ४. श्री माणकचन्द जैन, छोटी खाटु।

अन्य प्रकल्पों हेतु सहयोग राशि

१. श्री सी.एल. भण्डारी, ठाणे २. श्री एस. के. तलवार, जालन्धर ३. श्री गौरव गुप्ता, अजमेर ४. श्री लालचन्द आर्य, झज्जर ३. श्रीमती सुयशा भास्कर सेन गुप्ता, अमेरिका ४. श्री कश्मीरलाल सिंघल, गिदड़बाहा ५. श्री ऋषभ गुप्ता, अम्बाला कैण्ट।

आर्यजगत् के समाचार

१. **आर्य उप प्रतिनिधि सभा कोटा** के संभागीय प्रधान श्री अर्जुनदेव चड्ढा के निर्देशन में पर्यावरण शुद्धि और स्वच्छ जलवायु के लिये महावीर नगर सेकण्ड से यज्ञ-रथ अभियान चलाया गया।

यज्ञ-रथ के साथ आर्य कार्यकर्त्ता श्री किशन आर्य हरियाणा, श्री विष्णु गर्ग मन्त्रोच्चारणपूर्वक हवन करते हुए चल रहे थे। यह रथ गलियों में जहाँ से गुजरा वहाँ के लोगों ने अपने घरों के बाहर आकर विशेष औषधियों से युक्त हवन-सामग्री से गायत्री मन्त्र व महामृत्युञ्जय मन्त्र का उच्चारण करते हुए हवनकुण्ड में आहुतियाँ डालीं व कोरोना से मुक्ति तथा पर्यावरण शुद्धि के लिये प्रार्थना की।

२. **आर्यसमाज ब्यावर** द्वारा कोरोना महामारी निवारण एवं वायु शुद्धि हेतु विशेष सामग्री द्वारा यज्ञ-रथ 'आपके अपने द्वार' कार्यक्रम का शुभारम्भ २९ मई शनिवार को उपखण्ड अधिकारी- श्री रामप्रकाश व वार्ड नम्बर ३९ की पार्षद श्रीमती वीणा-राजेश झंवर व आर्यसमाज प्रधान श्री ओमप्रकाश नवाल द्वारा अग्निहोत्र में अग्नि प्रज्वलित कर किया गया। इस यज्ञ-रथ में १०८ तरह की औषधियों से तैयार की गई सामग्री द्वारा वैदिक मन्त्रों से आहुतियाँ दी गईं। पं. अमरसिंह वाचस्पति व श्री अभयदेव आर्य ने वैदिक मन्त्रों, गायन्त्री मन्त्र से, महामृत्युञ्जय मन्त्र से यज्ञ में आहुतियाँ डलवाईं।

३. **आर्यसमाज ब्यावर** द्वारा विश्व पर्यावरण दिवस ५ जून को प्रात: ७:३० बजे, विनोद नगर में वृक्षारोपण कर मनाया गया। प्रधान- श्री ओमप्रकाश नवाल, मन्त्री- श्री भूदेव आर्य ने अशोक, नीम, पीपल, गुलमोहर, तुलसी, नीम, गिलोय आदि के वृक्ष लगाकर शुभारम्भ किया। आर्यसमाज के पदाधिकारी व परिवार सदस्यों ने भी पौधे लगाए।

‘सत्यार्थ प्रकाश’ एवं ‘महर्षि दयानन्द जीवन-चरित्र’ प्रचार महायज्ञ में आपकी आहुति

महर्षि दयानन्द सरस्वती का अमर ग्रन्थ ‘सत्यार्थप्रकाश’ आर्यों का ब्रह्मास्त्र है। ऐसा ब्रह्मास्त्र, जिसने अविवेक, पाखण्ड, अन्धविश्वासों का दमन कर समाज में एक नई क्रान्ति ‘वैचारिक क्रान्ति’ को जन्म दिया। अन्धश्रद्धा, अविवेक और पाखण्ड मानव समाज में सहज ही पनपने वाली समस्या है, इसलिये प्रत्येक काल, प्रत्येक स्थान और प्रत्येक परिस्थिति में इन समस्याओं के उन्मूलन की आवश्यकता है-अत: ‘सत्यार्थ प्रकाश’ की आवश्यकता भी सदैव ही अनिवार्य रहेगी, परन्तु यह विचार जन-जन तक पहुँचे, तो ही लाभकारी होगा। इसी को ध्यान में रखते हुए परोपकारिणी सभा ने ७ वर्ष पूर्व ‘विश्व पुस्तक मेला’ दिल्ली में प्रतिवर्ष ‘सत्यार्थप्रकाश’ के साथ ‘महर्षि का जीवन-चरित्र’ एवं ‘आर्याभिविनय’ पुस्तक का नि:शुल्क वितरण करने की योजना बनाई, जो निरन्तर चल रही है। इस कार्य के परिणाम भी बहुत सुखद रूप में सामने आये हैं। पुस्तक में कई व्यक्ति आकर कहते हैं कि हमारे पास यह पुस्तक है, हम पिछले वर्ष ले गये थे।

प्रत्येक आर्यमात्र की यह इच्छा होगी कि वह भी इस ग्रन्थ को वितरित कर पुण्य का भागी बने। इसके लिये सभा प्रत्येक आर्य को इस महायज्ञ में सम्मिलित करना चाहती है। प्रत्येक व्यक्ति यज्ञ में अपनी आहुति दे तो यज्ञ और अधिक भव्य एवं विस्तृत हो जाता है। ‘सत्यार्थप्रकाश’ ‘महर्षि दयानन्द जीवन-चरित्र’ के नि:शुल्क वितरण रूपी यज्ञ में अपनी आहुति देने के लिये आप अपने सामर्थ्यानुसार सहयोग दे सकते हैं। परोपकारिणी सभा की ओर से ये पुस्तकें बड़े अक्षरों में, बढ़िया कागज पर, सजिल्द छापी जाती हैं, जिससे नये व्यक्ति के लिये भी पुस्तक संग्रहणीय बन जाती है। एक सैट की छपाई का खर्च लगभग १५० रु. आता है। **यदि कोई व्यक्ति अपनी सात्त्विक भावना से केवल २० पुस्तकें (इससे अधिक कितनी भी) ही वितरित करवाना चाहता है, तो सभा उतनी प्रतियों पर दानी व्यक्ति का नाम छपवाकर वितरित करेगी। इसी प्रकार ३०, ५०, १००, १००० आदि।**

१५० रु. प्रति के अनुसार आप दान देकर अपनी ओर से, अपने नाम से पुस्तक वितरित करा सकते हैं। आहुतियाँ जितनी अधिक होंगी, यज्ञ का फल भी उतना ही अधिक होगा।

अपने दान के साथ ‘सत्यार्थप्रकाश वितरण’ अवश्य लिख देवें, और साथ ही अपना नाम एवं पता भी। यह दान आप परोपकारिणी सभा के खाते में ऑनलाइन, चैक द्वारा या फिर परोपकारिणी सभा के पते पर मनिऑर्डर भी कर सकते हैं। यह यज्ञ आपका है, प्रत्येक आर्य का है। अत: प्रत्येक आर्य इसमें अपनी आहुति अवश्य दे।

न्यूनतम	२० प्रतियाँ	३०००/- रु.
	३० प्रतियाँ	४५००/- रु.
	५० प्रतियाँ	७५००/- रु.
	१०० प्रतियाँ	१५०००/- रु.
	५०० प्रतियाँ	७५०००/- रु.
	१००० प्रतियाँ	१,५०,०००/- रु.

इस प्रकार जितनी अधिक प्रतियाँ बाँटना चाहें, उतनी और दूरभाष संख्या के साथ भेज देवें। दान अक्टूबर माह के अन्त तक भिजवा देवें, ताकि प्रतियों की संख्या निर्धारित करके उन पर दानदाताओं का नाम अंकित किया जा सके। धन्यवाद।

मन्त्री, परोपकारिणी सभा, अजमेर

जैसे वेद के वेत्ता विद्वान् लोग वेदानुकूल मार्ग से परमेश्वर को जानकर उत्तम ज्ञान से उसका सेवन करते हैं वैसे ही जगदीश्वर सबको उपासनीय अर्थात् सेवन करने के योग्य है, वैसे ज्ञान के विना ईश्वर की उपासना कभी नहीं हो सकती क्योंकि विज्ञान ही उसकी अवधि है।

-महर्षि दयानन्द, यजुर्वेद, भावार्थ ८.४